श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ

मथुरा–२८१००१

श्रीशत्रुघ्नकुमार की आत्मकथा

लेखक
श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र'

प्रकाशक—
श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा संघ,
मथुरा।

प्रथमबार २०००
द्वितीयबार २०००
मूल्य—सात रुपया, पचास पैसे
७·५०

मुद्रक—
हर्ष गुप्त
राष्ट्रीय प्रेस, मथुरा

* अनुक्रमणिका *

दो शब्द—

"रिपुसूदन पदकमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ।।"

—श्रीरामचरितमानस

मेरा 'श्रीकृष्ण-चरित' बहुत-से सहृदय भावप्राण सुजनोंको प्रिय लगा। उनमें-से कइयोंने आग्रह किया—'आप एक श्रीरामचरित भी लिखें !' ऐसे परिचितोंमें प्रिय श्रीविष्णुहरिजी डालमियाका आग्रह पर्याप्त अधिक था। ऐसे प्रत्येक अवसरपर मेरा एक ही उत्तर रहा है—'गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका श्रीरामचरितमानस तो है ही। उससे सुन्दर कोई रामचरित क्या लिखेगा !' लेकिन मित्रोंका वह आग्रह अन्तःकरणको प्रेरित करता रहा।

कहानी तो मैं सन् १९३४ ई० से लिख रहा हूँ, जब मेरठसे निकलनेवाले मासिक-पत्र 'संकीर्तन' का सम्पादन करता था। उसी समयसे 'कल्याण' में कहानियाँ छप भी रही हैं। गत वर्ष जब मैं रामवनमें था, डा० भगवानदासजी सफड़ियाने उपन्यास लिखनेका अत्यधिक आग्रह किया। उनके आग्रहका ही परिणाम था कि मैंने अपना प्रथम उपन्यास 'राक्षसराज' लिखा, जो 'मानसमणि' में क्रमशः प्रकाशित हो चुका है। मानस संघ, रामवन (सतना) ने उसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया है।

भाई सफड़ियाजीका कहना है—'आपका राक्षसराज तो इतिहास-रसका उपन्यास है। इतिहास अधिक—उपन्यास कम। आप कोई सच-मुचका उपन्यास लिखिये।'

उस दिन श्रीशारदाप्रसादजी (मन्त्री, मानस संघ), बाबा शुकदेवदासजी, मैं और डा० भगवानदास सफड़िया सतनासे दो रिक्शोंपर एक प्राचीन मन्दिर देखने गये थे। भाई सफड़ियाजी रिक्शेपर मेरे साथ थे। मार्गमें रिक्शेपर ही शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथाकी कल्पना बातचीतमें उठी और सफड़ियाजीने आग्रह पकड़ लिया—'आप अवश्य इसे लिख दें।' उनका आग्रह चलता रहा। रामवनमें मैंने लिखना प्रारम्भ किया; किन्तु प्रस्तावना मात्रपर गति अवरुद्ध हो गयी। यह पावन चरित तो हिमालयके दिव्य प्रदेशमें, सुरसरिके पवित्र तटपर, उत्तरकाशीके 'योग-निकेतन' में पूर्ण होना था, सो यहाँ आनेपर ही लिखनेकी प्रवृत्ति पुनः जागृत हुई।

यह इतिहास-रस-प्रधान नहीं, इतिहास ही रह गया—मैं इसे जानता हूँ। भाई सफड़ियाजीको 'सचमुचका उपन्यास' लिखकर मैं सन्तुष्ट नहीं कर सका, किन्तु उनके आग्रहने श्रीराघवेन्द्रके भुवन-पावन चरितोंके चिन्तन-लेखनका मुझे सौभाग्य प्रदान किया। 'करन पुनीत हेतु निज बानी' ही यह प्रयत्न है मेरा।

योग-निकेतन, उत्तरकाशी
भौमवार—श्रावण पुरुषोत्तम मास
द्वादशी कृष्ण पक्षीया
१२–८–१९५८

—सुदर्शनसिंह

द्वितीय संस्करणके सम्बन्धमें

'मानस संघ' पो०-रामवन (सतना-म० प्र०) से यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी। अनेक भगवद्भक्त सरस हृदय लोगोंको इससे रस मिला। अनेकोंने इसके लिये मुझे पत्र लिखे अथवा मिलनेपर अपने उद्गारोंका आशीर्वाद दिया। कुछ कथा-वाचकोंने इसके कुछ प्रसङ्ग अपने कथा-प्रवचनके अङ्ग बना लिये हैं।

'यह श्रीरामचरितमानसका स्पेस-फिलर (रिक्त-पूरक) है।' एक मित्रने यह रिमार्क दिया था।

पुस्तकका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। मानस संघ आर्थिक कारणोंसे अभी शीघ्र इसका पुनर्संस्करण कर नहीं सकता था। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघको इसके पुनः प्रकाशनका निश्चय करना पड़ा।

इस द्वितीय संस्करणमें कोई परिवर्तन-परिवर्धन नहीं हुआ है। अब जो पाठक इसे पानेको उत्सुक थे, उनकी अभिलाषा-पूर्ति हो सकेगी।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान
मथुरा—२८१००१
दीपावली, सं० २०३१ वि०

सुदर्शनसिंह

प्रस्तावना

'अयोध्यासे चर आया है, सुनती हूँ, मर्यादापुरुषोत्तमने आर्यपुत्रको कोई सन्देश भेजा है।' मधुपुरीकी वर्तमान रानी शत्रुघ्नकुमारकी जीवन-सहचरी उत्सुकतापूर्वक पूछ रही थीं—'महाराजाधिराज कोई और यज्ञ करने जा रहे हैं? हमें अयोध्याके दर्शनोंका सौभाग्य पुनः प्राप्त होना है?'

'अयोध्या चलना तो है; किन्तु कह नहीं सकता कि यह सौभाग्य सिद्ध होगा या दुर्भाग्य।' शत्रुघ्नकुमारका स्वर थकित हो रहा था—'रही यज्ञकी बात—वह तो अब और होनेकी सम्भावना नहीं रही महारानी।'

'महारानी—आर्यपुत्र, आप भी यह कहते हैं? आप भी?' श्रुतिकीर्तिके विशाल लोचनोंसे टप्-टप् बिन्दु गिरने लगे—पद्मदलसे जैसे मुक्ता लुढ़क पड़े हों—'महारानी तो एक ही थीं—मेरी वे अग्रजा, और अब तो अयोध्यामें उनकी स्वर्ण-मूर्ति महारानी कहलाती है। धराने साकार होकर जिन्हें सबके समक्ष अङ्कमें ले लिया, अब तो उनकी प्रतिमाका पूजन ही हम सबके लिए शेष रह गया है।'

'मेरा चित्त आज स्थिर नहीं है, इसीसे मेरे शब्द तुम्हारे हृदयपर आघात करनेवाले हो गये।' शत्रुघ्नने अपने पटुकेसे ही सहचरीके अश्रु पोंछ दिये।

'आपका चित्त अस्थिर है?' आशङ्कासे पीत हो उठा वह उत्फुल्ल पद्ममुख।

'मुझे भी कोई कारण ज्ञात नहीं; किन्तु पता नहीं क्यों, हृदय जैसे बैठा जाता है। जैसे दिशाओंको कोई अदृश्य अन्धकार आच्छादित करने बढ़ा आ रहा है। कोई कराल कर पूरी जगतीको राहुके मुखकी भाँति ग्रास कर लेना चाहता है।'

'शान्तं पापम्!' देवी श्रुतिकीर्तिने अत्यन्त आकुलतापूर्वक कहा—'यह सब आप क्या कह रहे हैं? अयोध्याका समाचार...?'

'सम्राट्ने केवल इतना आदेश भेजा है कि मैं अपने दोनों पुत्रोंका अभिषेक कर दूँ राज्यके दो भाग करके, और यथाशीघ्र अयोध्या आ

जाऊँ ।' शत्रुघ्नकुमार वैसे ही भावशून्य बोल रहे थे—'परसों ही कुमारोंका अभिषेक हो जायगा और हम यहाँसे प्रस्थान करेंगे—सम्भवत: सदाके लिये ।'

'हमारा निर्वासन समाप्त हो गया ।' शील एवं सौन्दर्यकी उस प्रतिमाके मुखपर तनिक उल्लासकी रेखा आयी शिशिरमें तुषार-ध्वस्त पद्मिनीपर वसन्तके प्रथम दिवसकी भाँति ।

'इस समाप्तिमें भी अब उल्लासका कारण कहाँ रहा देवि ?' इस बार विश्वमें वज्रपुरुषके रूपमें प्रख्यात शत्रुघ्नके नेत्रोंमे जल आया—'अयोध्याके राजभवनमें अब उल्लास प्राप्त हो, ऐसा क्या रहा है ? स्नेहमयी आर्या चली ही गयी थीं; मेरे सहोदरको निर्वासन प्राप्त हो गया और वे सरयूके पावन कूलपर आसन लगाकर बैठ चुके हैं—उस आसनसे कभी उठना नहीं है उन्हें । छोटी भाभीकी अवस्था भी अब क्या तुमसे कहनी है । वे महासती—तुम्हें स्मरण है न जब श्रीराघवेन्द्र लङ्काके युद्धमें व्यस्त थे और सञ्जीवनी ले जाते हुए पवनपुत्रको तातने भ्रमवश वाण मार दिया था । कपिने समाचार दिया था कि रावणकी अमोघ शक्तिके आघातसे मेरे सहोदर युद्ध-भूमिमें संज्ञा-शून्य पड़े हैं । सम्वाद राजभवन पहुँचा, किन्तु मेरा साहस नहीं हो रहा था उसे छोटी भाभी तक पहुँचानेका । मँझली भाभी क्रन्दन कर उठीं और तब स्वयं छोटी भाभी दौड़ आयीं । उनका वह स्वर आज भी मेरे कानोंमें गूँज रहा है । उन्होंने मुझे नन्हें बच्चेकी भाँति झिड़क दिया—'कुमार, तुम भी इस प्रकार कातर होते हो ? इधर देखो ! मेरे भालका सिन्दूर-बिन्दु धूमिल नहीं हुआ है, मेरे करोंकी रत्न-चूड़ियोंमें एक भी स्थानच्युत नहीं हुई, मेरी वेणी तथा मालाके पुष्प अम्लान हैं, मेरे आराध्यपर कोई सङ्कट नहीं । इसमें तुम्हें सन्देहका कोई कारण नहीं होना चाहिये ।'

'वे सदासे तेजस्विनी हैं ।' श्रुतिकीर्तिने सजल नेत्रोंसे कहा—'बाल्यकालसे उनकी तेजस्विता अदम्य रही है ।'

'और आज अयोध्यामें वे क्रन्दन करती होंगी ।' आगे बोला नहीं गया शत्रुघ्नकुमारसे ।

'आर्यपुत्र !' देवी श्रुतिकीर्ति मूर्छित होते-होते बचीं । उनके सदाके आधारने उन्हें अपनी विशाल भुजाओंमें सम्हाल लिया था । यद्यपि वे स्वयं भी अत्यन्त कातर होरहे थे ।

* * * *

'महाराज !' सुभद्रने एकान्त कक्षमें प्रवेश किया। वे मधुपुरीके शासन-तन्त्रके मन्त्री ही नहीं, नीति निर्देशक हैं और अपने शासकके अन्तरङ्ग सखा होनेका भी गौरव प्राप्त है उन्हें। अयोध्यामें महामन्त्री सुमन्त्रका जितना सम्मान है, मथुरामें सुभद्रका सम्मान उससे कम नहीं है।

'आओ सुभद्र।' शत्रुघ्नकुमारने शिथिल स्वरमें ही मन्त्रीको अनुमति दी--'यह राज-सभा तो नहीं है। यहाँ तो तुम मुझे इस 'महाराज' सम्बोधनसे मुक्ति दे सकते हो। कितनी कृत्रिमता—कितना बन्धन है इसमें। तुम नहीं जानते सुभद्र कि मुझे इससे कितनी व्यथा होती है ?'

'देव !' महामन्त्रीने कक्षमें प्रवेश करके अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया अपने नरेशको और फिर उनके समीप बैठी देवी श्रुतिकीर्तिको। मन्त्रीकी उपस्थितिमें देवीका वहाँसे चले जाना आवश्यक नहीं था। वह इस अपने शासक दम्पतिको आराध्यकी भाँति मानता था और उनका अनुग्रह-भाजन था। देवीके स्नेहके कारण उनकी उपस्थिति उसे अधिक भक्तिनम्र बना देती थी—'हमने अयोध्याका वर्णन सुना है। मर्यादा-पुरुषोत्तमका दिगन्त-धवल यशोगान हमें पवित्र करता है; किन्तु लवणासुरके नारकीय अत्याचारोंसे त्राण देने वाले अपने आराध्यको 'महाराज' हमारी वाणी सहज उल्लासवश कहती है।'

'हम अयोध्याकी ही चर्चा कर रहे थे सुभद्र !' शत्रुघ्नकुमारने संकेत किया मन्त्रीको बैठनेका और वह पादपीठके समीप बैठ गया— "यह 'महाराज' सम्बोधन मिला है शत्रुघ्नको अयोध्याके निर्वासनस्वरूप— अयोध्यामें तो सभी मुझे कहते थे कुमार। कितना स्नेह, कितना माधुर्य था इस 'कुमार' में।"

'अयोध्यासे निर्वासन ?' मन्त्रीने तनिक आश्चर्यपूर्वक अपने नरेशकी ओर देखा।

'जब कोई श्रद्धेय अपने आश्रितको अपने श्रीचरणोंसे पृथक् करदे—निर्वासन ही तो हुआ वह।' शत्रुघ्नजीका स्वर भावविह्वल हुआ— 'नीपतरु अपने वृन्तोंमें जिन्हें हिलोरें देता है, जिन्हें गोदमें लेकर झूमता है, उन्हीं सुकुमार सुमनोंको जब वह गिरा देता है वृन्तोंसे—निर्वासन नहीं है उनका ? इससे क्या होता है कि मौलिश्रीके सुमन किसी आराध्य श्रीविग्रहकी मौलिश्री बनते हैं या किसी सौन्दर्य लतिकाकी वेणीको सुरभित बनाते हैं।'

'आप इसे निर्वासन कहते हैं देव ?' मन्त्रीके स्वरमें श्रद्धा थी—'अयोध्याके सम्राट् त्रिभुवनके स्वामी हैं। उन वाञ्छा-कल्पतरुने अपनी कृपाका सर्वोत्तम प्रसाद हमें प्रदान किया।'

'सुनता हूँ, मेरे सहोदर अग्रजको भी निर्वासन प्राप्त हुआ है।' शत्रुघ्नकुमारने मन्त्रीके शब्दोंको सुना ही नहीं। वे अपनी चिन्ताधारामें लीन कह रहे थे—'मैं सदा उनका अनुज होनेके अयोग्य सिद्ध हुआ। श्रीरघुनाथको वनवास प्राप्त हुआ और वे साथ गये; किन्तु इस हत-भाग्यको साम्राज्य सम्हालना पड़ा और सम्राट्से निर्वासनका आदेश मिलते ही उन्होंने निर्वाण-प्राप्तिके लिये आसन लगा दिया है। मैं राज्य करने दौड़ आया था अयोध्यासे बाहर जानेका आदेश जब सम्राट्ने मुझे दिया था।'

'मर्यादा-पुरुषोत्तमने अपने अनुजको सस्नेह स्मरण किया है।' मन्त्रीने आश्वासन देनेका प्रयत्न किया—'कुमारोंके अभिषेककी व्यवस्था सम्पूर्ण हो चुकी; किन्तु कभी-कभी श्रीचरण यहाँके सेवकोंको सेवाका सौभाग्य देने पधारते रहेंगे—नागरिकोंकी यह आन्तरिक प्रार्थना लेकर आश्वासनकी आशासे इस असमयमें यह जन उपस्थित हुआ था।' मन्त्री सुभद्रने इस बार अपना प्रयोजन व्यक्त कर दिया।

'मुझे चारों ओर अन्धकार दीखता है सुभद्र !' शत्रुघ्नजीने मुख ऊपर उठाया—'अयोध्या जानेमें हृदय कोई उल्लास अनुभव नहीं करता। लगता है अब यह यात्रा ..... लेकिन रहने दो। कोई आश्वासन दे सकूँ, इतनी शक्ति मैं अपनेमें नहीं पा रहा हूँ। अयोध्याका उल्लास समाप्त हो गया। वहाँसे साक्षात् श्री भूलीन हो गयीं और अब साकार शौर्य निर्वासित कर दिया गया है। उसकी सहचरी ओजस्विता क्षणोंकी प्रतीक्षामें है। कितने दिन स्थिर रहेगा वहाँ जीवन ?'

'देव ! देव !' कातर हो उठे मन्त्री—'यह क्या अशुभ सूचित करते हैं आपके शब्द।'

'मैं स्वयं नहीं जानता सुभद्र !' जैसे स्वर बहुत दूरसे आ रहा हो।

* * * *

'आपके अनुग्रहसे यह जन अश्वमेध यज्ञके समय अयोध्याके दर्शन करके सम्पूर्ण मनोरथ हो सका।' मन्त्री सुभद्रको अपना चित्त स्थिर करनेमें कुछ क्षण लगे—'मेरी प्रार्थनापर श्रीचरणोंने आश्वासन दिया था किसी सुयोगमें पूरा श्रीरघुनाथ-चरित श्रवण करानेका। सुयोग तो मेरे अभाग्यसे नहीं ही प्राप्त हुआ।'

'अब यही एक अवसर है—केवल आजकी रात्रि।' शत्रुघ्नकुमारने मन्त्रीकी प्रार्थनाको स्वीकृति दे दी—'तुम बैठ सको तो इस योगका लाभ उठाया जा सकता है। वैसे मैं उसी रूपमें यह चरित सुना सकता हूँ, जिस रूपमें मैंने उसे देखा-समझा है। सम्भव है, अपने आराध्यके चरितोंका चिन्तन-मनन करनेका और कोई योग मुझे फिर न प्राप्त हो।'

'मेरे जीवनकी यह रजनी धन्य बने।' सुभद्र पाद-पीठके समीप इस प्रकार बैठ गया, जैसे पूरी रात वह वहीं बैठा रहेगा। 'तब हम कुछ अधिक सुविधापूर्वक बैठें।'—अपनी सहचरीकी ओर देखा उन अमित पराक्रमने—'देवि!'

'मैं ही इस सौभाग्यसे क्यों वञ्चित रहूँ?' देवी श्रुतिकीर्तिने अपनी उत्सुकता तथा रात्रि-जागरणकी प्रस्तुति सूचित कर दी।

वे दम्पति उस आसनसे उठे और दूसरे रत्नजटित हेम-सिंहासनपर जा विराजे। मन्त्री सुभद्रने उनके अतिशय आग्रहके कारण एक दन्तासन स्वीकार कर लिया।

* * * *

ऋषि सर्वज्ञ होते हैं। भूत-भविष्य ये दोनों काल उनको वर्तमानकी ही भाँति प्रत्यक्ष होते हैं। कहीं कोई कार्य, कोई घटना, कोई चर्चा हुई हो—उनका मानस उसे इच्छा करते ही प्रत्यक्ष कर लेता है।

ऋषियोंके चित्तके आधार हैं भगवान कौशल-किशोर। उन श्रीराघवेन्द्र-पाद-पद्मोंके ही चतुर्दिक मुनि-मानस-भ्रमर भ्रमण किया करते हैं।

ऐसी अवस्थामें अनेक आवृत्तियाँ हुई हैं, होंगी, ऋषि-मानसोंमें कुमार शत्रुघ्न कथित उनके आत्मचरित अथवा इस रूपमें कथित रघुनाथ-चरितकी। ज्ञान नित्य होता है। जो शब्द या विचार विश्व-मानसमें व्याप्त हैं, जिनकी आवृत्तियाँ चली रही हैं, उन्हें कोई अन्तःकरण किसी अलक्ष्य, अनुकम्पामयके असीम अनुग्रहसे ग्रहण करले—असम्भव तो नहीं है यह।

रघुकुल

अरुणोदयकी पवित्र अरुणिमा विश्ववन्द्य विप्रवृन्दके सामगानसे सृष्टिके प्रारम्भसे सत्कृत होती आ रही है । उषा कालकी उस पावन बेलामें अर्घ्याञ्जलि उठाये ऋषिगण तक पलक-पावँड़े बिछाये प्राची-क्षितिजपर प्रतीक्षा-दृष्टि लगाये होते हैं और जब वहाँसे निखिल-भुवन-ध्वान्तान्तक भगवान भास्करका भव्य प्रकाश प्रकट होता है, आनन्दोद्रेकसे श्रुतिके स्वर मुखरित हो उठते हैं—

'सहस्त्ररश्मिः शतधावर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येषसूर्यः ।'

उन्हीं सचराचर-जीवन, सुरासुरार्चित भगवान आदित्यका वंश है जिसमें हमारा जन्म हुआ । हमारे मूलपुरुष—वे तो मानवमात्रके मूल पुरुष हैं, किन्तु यह गौरव हमें प्राप्त है कि हम उन वैवस्वतकी सीधी परम्परामें हैं । विश्वमानव—ऋषि-कुल तक ,उनकी सन्तान हैं । अधिकांश कुल उनकी दुहिताओंकी सन्तति परम्पराके हैं ; किन्तु हमें गौरव प्राप्त हुआ है उनकी 'दाय' परम्पराका प्रसाद प्राप्त करनेका ।

निखिल जीवोंके नियामक, संयमिनीके स्वामी भगवान यम हमारे कुलपुरुष हैं और सुभद्र ! इक्ष्वाकुका यह कुल—सुर अथवा सुरेन्द्र इसकी समता कभी नहीं कर सके, यह तुम जानते ही हो । यह मानवका शील है—वह सुरोंका सम्मान करता है । उन्हें वन्द्य बनाकर अर्चापीठपर आसीन करता है ; किन्तु मर्यादाका अपना स्थान है और सत्यका अपना गौरव । त्रिभुवन इस स्पष्ट सत्यसे अपरिचित नहीं कि अमरावती अयोध्याके आश्रित है। अयोध्याके सिंहासनकी रक्षामें ही सुर अशङ्क रह पाते हैं और उनपर जब आपत्ति आती है, इक्ष्वाकु कुलके धनुषका ज्याघोष ही उसे निवृत्त करता है । अयोध्याने अपनी मर्यादा—मानवकी मर्यादाका मान किया और उसका उसे पूरा पुरस्कार प्राप्त हुआ । आज मर्यादापुरुषोत्तम उसके अपने हैं, किन्तु यदि यह मर्यादा मान्धाताका वंशधर भूल गया होता—अमरावतीका अधीश्वर उसका एक करद तुच्छ सामन्त था ।

शतक्रतु इन्द्र—सबसे महान गौरव है यह सुरेन्द्रका ; किन्तु अयोध्याके सिंहासनपर अनेक शतक्रतु आसीन हुए हैं। पुण्यतोया, स्वभावसरला सरयू साक्षी है—अनेक-अनेक बार उसके भुवनपावन उपकूलपर अयोध्याके अधिपतिने शताधिक अश्वमेध किये और उसके परिणाम—इन्द्रपदकी ओर दृष्टि तक नहीं गयी उनकी।

मान्धाता एवं मरुतके यज्ञकी समता कर सकेंगे शतक्रतु ? वे उसके स्मरणसे सनाथ हो सकते हैं। महाराज सगरके यज्ञीय अश्वको तस्करकी भाँति चुराया उन्होंने। सम्मुख आनेका साहस उनमें नहीं था। उन पाकशासनका अमोघ वज्र इक्ष्वाकुकी सन्तानोंके विशद वक्षपर कितनी बार कुण्ठित हुआ, कौन गिने ?

सगरके यज्ञमें वे बाधा नहीं दे सके। उनका वह कुत्सित प्रयत्न हमारे कुलको आकल्पान्त उज्वल कर गया। सगरकी सन्तानोंके अतिमानव पराक्रमके साक्षी हैं ये समुद्र ; और भगवती भागीरथी धरापर पधारीं उनके श्रम एवं श्रद्धासे सन्तुष्ट होकर।

हमारे गोत्रपुरुष महाराज रघुपर भी महेन्द्रने अपने वज्रकी परीक्षा कर देखी। वे बार-बार विस्मृत हो जाते हैं कि वृषभ बनकर उन्होंने अयोध्याके अधिपतिको अपना आरोही बनाया है। असुरोंसे आक्रान्त होनेपर वे इसी धन्य धरापर शरणकी शोधमें आतुर आते हैं।

दूसरोंकी चर्चा क्यों की जाय, पितृचरणोंको हो शरण लेनी पड़ी थी सुरेन्द्रको। असुरोंकी आपत्तिसे सुरोंका त्राण महाराज दशरथके दुर्दम बाहुओंने ही किया था।

देवराज अयोध्यानाथको सदा अभ्युत्थान देते रहे हैं, वह उनका शील ; किन्तु यह सौजन्य अयोध्याके अधीश्वरका कि अमरावतीमें उपस्थित होनेपर वे सुरेन्द्रको अपने साथ आधे सिंहासनपर आसीन हो जाने देते थे ; अन्यथा अयोध्याके सिंहासनका पादपीठ भी स्वर्गके सर्वोच्च सिंहासनसे अधिक महिमा-मण्डित है।

'सुरोंसे मानव नित्य महान है देव !' सुभद्रने मस्तक झुकाया—'हमारी कर्मधरा—स्वर्ग इसकी स्पर्धा कर सके, ऐसा कुछ नहीं उसके समीप और अयोध्या तो भूमिकी सौभाग्य भूमि है। वह धराका आराध्य पीठ—उसकी समता प्रभुके दिव्यधाम भी कर पाते हैं, इस जनको सन्देह ही है।'

* * * *

हमारे श्रीअवधधामकी स्पर्धा केवल एकने की—शत्रुके शौर्यकी प्रशंसा करनी चाहिए सुभद्र ! लङ्काका स्वामी ही वह शूर था जो अयोध्याके सम्मुख उठ सका। उसका साहस अपार था और अथक था उसका उद्योग।

महाराज दिलीपसे संग्राम करके उसने समत्व स्थापित किया। असुर अपने आश्वासनपर स्थिर रहेंगे, इसकी आशा कभी करनी ही नहीं चाहिए। वह अयोध्या आया और आता रहा; किन्तु आक्रान्ता बनकर आनेका साहस उसमें नहीं था। उसने केवल अनुमान करना अभीष्ट माना। अयोध्याके सिंहासनपर जब कोई नवीन अभिषेक हुआ—असुरकी आशा उसे भ्रान्त किया—कदाचित् इस बार वह इधर अपने पद टिकानेका अवसर पा सके; किन्तु उसकी दुराशा व्यर्थ थी। अयोध्याके सिंहासनके अपार दिव्यास्त्र ज्ञान एवं अतुलनीय शौर्यने सदा उसके साहसको अंकुरित होनेसे पूर्व ही कुण्ठित कर दिया।

'अब तो लङ्का अयोध्याकी अनुग्रह-भाजन है।' सुभद्रने सोल्लास अपनी बात पूरी की—'मर्यादापुरुषोत्तमने लोक-रावण—रावणको परमधाम दे दिया। सुरों, सत्पुरुषों, सत्पथ एवं सदाचरणका वह शत्रु समराङ्गणमें अपना शौर्य प्रदर्शित करके श्रीरामके शरोंसे परिपूत होगया। उसका साहस, उसकी शूरता जितनी प्रशंसनीय रही, उसकी सद्गति उससे कहीं अधिक स्पृहणीय है।'

* * * *

हमारी अयोध्या—वह अपने शौर्यसे नित्य उज्वला है तो अपने त्यागसे नित्यवन्दिता रही है त्रिभुवनमें। महाराज रघुका सुयश गानकर अब भी मानव पवित्र होता है। अपना सर्वस्व दान कर चुकनेपर भी महर्षि वरतन्तुके शिष्य ब्रह्मचारी कौत्सको उन्होंने चौदह सहस्र स्वर्ण मुद्रा देनेका आश्वासन दिया।

धनाध्यक्ष वैश्रवणने बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की कोषागारमें स्वर्ण-वृष्टि करके। वे यह बुद्धिमत्ता न भी प्रदर्शित करते—हानि एवं पराभवको अपनाना ही तो उनका भाग बनता। अयोध्याका सम्राट् धनुषपर ज्या चढ़ाकर किसीकी विजयके लिए प्रस्थान करेगा—जगत्स्रष्टाने विधान बना रखा है कि ऐसी अवस्था आनेपर परपक्षके भाग्यमें केवल पराभव होता है।

* * * *

महाराज भगीरथ—भुवनवन्द्य ऋषिगण तक उनका स्तवन करते हैं। धरित्री धन्य हुई उनकी श्रद्धा, तपस्या एवं स्थैर्यके पुण्य प्रसादके रूपमें त्रिपथगाकी धारा प्राप्त करके और यह जाह्नवीकी धारा—अयोध्याकी अमलकीर्ति-धारा आकल्पान्त पृथ्वीको पावन करती इस रूपमें प्रवाहित हो रही है।

महाराज हरिश्चन्द्रका मानव प्रातःस्मरण करता है। उन पुण्य-श्लोकका स्मरण उसे पवित्र करता है। सत्यकी रक्षाके लिए उनके अतिमानव त्यागने सत्यको भी समुज्ज्वल किया। उन महाभागका स्मरण जन मानसमें आज भी सत्यकी प्रतिष्ठा करता है और श्रद्धाको शक्ति देता है।'

* * * *

सुभद्र ! जानते हो तुम कि अयोध्याके सिंहासनपर वेनको छोड़कर अब तक कोई ऐसा नहीं बैठा, जिसके किसी कर्मकी ओर कोई अंगुलि-निर्देश कर सके।

अयोध्याके राजकुलने विलास नहीं सीखा। वैभवको भोगके लिए उसने कभी स्वीकार नहीं किया। जहाँ अल्पसत्व, क्षीणकाय, अल्पसाहस एवं सामान्य प्रज्ञ पुरुषोंसे हमारा कुल कभी किसीका उपहासास्पद नहीं बना, वहीं इस कुलमें स्वार्थपर, देहपोषक, त्यागकृपण प्राण भी उत्पन्न नहीं हुए।

रघुवंशी युद्धमें यमकी चुनौती भी सहर्ष स्वीकार करनेको प्रस्तुत रहा तो साथ ही अतिथि एवं विप्रोंके लिए, शरणागत-रक्षणके लिए और धर्मके लिए उसने अपने मस्तकका मूल्य कभी नहीं माना। उसके देह तथा प्राण नित्य उपहार बने रहे।

बहुत दूरकी बात नहीं है—महर्षि अगस्त्य साक्षी हैं। अयोध्याके राज-कोषमें उन्हें एक कार्षापण नहीं प्राप्त हुआ था जो प्रजाके पोषण-व्ययसे बच रहता हो।

'प्रजा पुत्रवत् है।' यह आदेश-उपदेश अन्यत्रके लिए ही शास्त्रोंका रहा है। अयोध्याने तो प्रजाको प्राणाधिक माना है सुभद्र !

'देव !' सुभद्रका कण्ठ भर आया—'अयोध्यानाथने प्रजाके कुत्सित जनोंकी कुत्साको सम्मान देकर जो त्याग किया—प्रजा नित्य अकृतज्ञ रही स्वामी !'

'प्रजाकी ही बात नहीं सुभद्र ! हमने शत-शत अश्वमेध किये। सहस्र-सहस्र बार अयोध्याका यज्ञीय अश्व दिशाओंमें दिग्विजय करता

घूमा—युद्ध हुए ; किन्तु किसीकी स्वाधीनता कहीं अपहृत हुई ? शत्रुका समादर करनेमें हमसे कभी प्रमाद हुआ ?

अयोध्याके सम्राट् अपने सभासद-सामन्तोंमें खड़े होनेका सुअवसर प्रदान करें—शतक्रतु देवेन्द्र भी अपना सौभाग्य मानेंगे ; किन्तु तुम जानते हो, मर्यादा-पुरुषोत्तमने बालिकुमार अङ्गदकी आर्त प्रार्थनाके प्रति भी अपनेको अकरुण बना लिया था। अयोध्याकी परम्परा जो है—पराभूत, आश्रित एवं विनत—सबकी स्वाधीनता अक्षुण्ण रहनी चाहिए।

* * * * *

श्रुति-स्मृति विहित धर्मका सम्यक् आचरण करके, प्रजाको उसमें नियुक्त रखते हुए यज्ञ, शान्ति, रक्षा एवं लोक-रक्षणमें जीवन व्यतीत करके अन्तमें अरण्यका आश्रय—योगके द्वारा देहोत्सर्ग, रघुवंशका यही आदर्श रहा है। इस आदर्शमें एक ही अपवाद है सुभद्र !

'आप उसे अपवाद क्यों मानते हैं देव ?' सुभद्रने संयत स्वरमें कहा—'जिनके शरीरसे साक्षात् परमपुरुषने अवतार ग्रहण किया। आदि क्षितीश्वर, पृथ्वीपर पुर-ग्रामादिके प्रथम संस्थापक, पृथ्वीको भी पुत्री बनाकर पिताका गौरव प्रदान करने वाले राजराजेश्वर महाराज पृथुको आविर्भाव प्रदान करने वाले महाराज बेन—वे निन्दार्ह हो सकते हैं, यह किसी चित्तमें आवे तो कलुषित होगा वह चित्त।'

सुभद्र ! सृष्टिके संरक्षक परमपुरुष भगवान नारायण हमारे कुलपुरुष हैं भुवन भास्कर रूपमें और अनेक-अनेक बार अनेकानेक रूपमें अपने इस कुलको अपने अवतरणसे उन्होंने धन्य किया है। इस कुलका शौर्य, इसका त्याग, इसकी धर्मनिष्ठा, इसका औदार्य—

'इस बार परात्पर पुरुष भी अपनेको इस आकर्षणसे नहीं रोक सके देव !' सुभद्रका कण्ठ गद्गद हो उठा—'हम सब धन्य हो गये धरापर उनके पदार्पणसे और उनकी प्रजा होकर। उनका हम मधुपरवासियोंपर श्रीअवधसे कम अनुग्रह नहीं। उनका परमप्रिय प्रसाद पाया हमने अपने संरक्षक रूप में ; किन्तु अब·········।'

बोला नहीं गया आगे सुभद्रसे। देवी श्रुतिकीर्तिके नेत्र भी सजल हो उठे थे। शत्रुघ्नकुमार गम्भीर थे—अतल जलधिके समान गम्भीर। उनके सुदीर्घ दृग ऊपर उठे कक्षके अन्तरालमें नियति-विधान देख लेनेके प्रयत्नमें मानों लगे हों। मौन—दो क्षण पूरे कक्षमें मौन व्याप्त रहा।

—०×०—

शैशव

'परात्पर पुरुष' शत्रुघ्नका स्वर भावभरित हो उठा था—'ऋषिगण कहते हैं, वे क्रान्तदर्शी महर्षिगण—जिनकी वाणी प्रमादमें भी असत्यका स्पर्श नहीं करती—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी मुनि कहते हैं और सुर, सुरेन्द्र एवं जगत्स्रष्टा लोक-पितामह ही नहीं, उपसंहर्ता त्रिनयन नीलकण्ठ प्रभु भी कहते हैं कि हमारे अग्रज परात्पर परम पुरुष हैं; किन्तु सुभद्र—हमने ही नहीं, अयोध्याके अन्त्यजों तकने तथा अश्वमेधमें स्वयं तुमने देखा है—वे कहाँ 'पर' हैं। वे तो हमारे हैं—हमारे अपने और कभी किसीने अनुभव किया है कि वे उसके अपने नहीं हैं? ममता, करुणा, वात्सल्यके वे साक्षात् श्रीविग्रह—सुनता हूँ, वे अब अपनोंपर अपने आप अकरुण हो उठे हैं। समझ नहीं पाता सुभद्र........।'

'देव !' जैसे कुररी कातर स्वरमें चीख उठी हो। देवी श्रुतिकीर्तिके भरे दृग अपने आराध्यकी ओर उठे। कुमार शत्रुघ्नकी वाणी रुद्ध हो गयी—पर्वतीय प्रान्तमें कलकल करती, कूदती-दौड़ती वारिधाराका मार्ग जैसे सहसा पार्श्व शिखरके वज्राघात पतित होनेसे अवरुद्ध हो उठा हो। वारिधारा क्षणोंको ही अवरुद्ध होती है। उसे तो अपना मार्ग बनाना ही ठहरा। कुमार शत्रुघ्नने भी अपनेको दो क्षण रोक लिया और वे प्रसङ्ग परिवर्तित कर चुके थे अपने मानससे।

'उस समयकी स्मृति नहीं है सुभद्र !' कुमारकी वाणी शान्त स्निग्ध हो गयी थी—'शैशव का स्मरण किसे रह पाता है; किन्तु मातायें एवं धात्रियाँ, मुनि-पत्नियाँ भी अनेक बार उसकी चर्चा करती रही हैं और उस चर्चाने अपने उस शैशवका एक चित्र मनको दिया है।

'माँ—तुम जिन्हें राजमाता कहते हो, हम चारों ही उन्हींको माँ कहते हैं सुभद्र ! माँ तो वे ही हैं—जगन्माताका निस्सीम वात्सल्य है उनमें। किसीसे कभी कोई अपराध भी होता है, वे समझ ही नहीं पातीं। वे माँ कहती हैं—'उनका राम उत्पन्न होनेपर रोया था। केवल राम ही

रोया—शेष तीनों तो रोये ही नहीं ।' भला शेष तीनों क्या रोते ? उन्हें जीवनमें ही क्या कम रोना था कि उत्पन्न होनेपर भी रोते । चौदह वर्ष निरन्तर रुदन हम दो भाइयोंका भाग्य बना और मेरे सहोदर अग्रज—अब उनके रुदनको कोई क्या समझेगा, अब उनपर अयोध्याकी अधिष्ठातृको वनमें त्याग आनेका भार मर्यादा-पुरुषोत्तमने डाला था ।

हाँ, माँ कहती हैं—'भरत जन्मसे गुमसुम रहा । वह न रोया और न खुलकर हँसा ही । रामके समीप शैशवमें भी वह जैसे सङ्कोचमें डूबा रहता था और राम पास न हों तो गुमसुम हो जाता था ।' मेरे अग्रज खुल कर हँसे थे और मेरी जन्मदात्री कहती हैं 'यह छोटा सबसे ऊधमी है । पलनेमें भी यह वस्त्रोंको सदा पैरोंसे मारता-हटाता रहता था । यह भरतके समीप ही शान्त रहता है और राम पास हो तो यह जैसे छुई-मुई हो जाता है ।'

'सुभद्र ! दैव किसे कब कैसा बना देगा, कोई ठिकाना है ?' कुमारका स्वर विचित्र गम्भीर हो गया—'माता कैकेयीने जाना ही नहीं था कि भरत उनके पुत्र हैं और श्रीरामकी जननी वे नहीं हैं । दैवने उन्हींको वनवासका निमित्त बना छोड़ा ।'

माँ कहती हैं—'राम रात्रिमें भी निद्रा टूटनेपर रोने लगता था और उसी समय उसे लेकर छोटी रानीके समीप जाना पड़ता था कि 'अपने राम को सम्हालो ।'

माँकी गोद तो माँकी ही गोद है । उसमें हम चारों तो क्या सम्पूर्ण विश्व शिशु बनकर समा जा सकता है । उनके लिए दूसरा कोई है ही नहीं । किन्तु वे कहती हैं कि राम उनकी गोदमें टिकना ही नहीं चाहता था । उसे तो कैकेयी माताकी गोदमें ही प्रसन्नता प्राप्त होती थी और निद्रा आती थी ।

हम दोनों सहोदरोंकी माँ स्नेह पूर्वक उपद्रवी कहती रही थीं । वे कहती थीं—हम दोनों रूपसे ही नहीं, स्वभावसे भी एक-से रहे हैं । न अग्रजको श्रीरघुनाथके बिना चैन और न मैं रुकना चाहता श्रीभरतके बिना ।

'मेरा लाल तो भरत है ।' माँ बड़े उल्लाससे कहा करती थीं—'वह शान्त है, सौम्य है । गोदमें, पलनेपर या जहाँ उसे रख दो, वहीं सदा कहीं चुपचाप पड़ा रहेगा ।'

मुनि-पत्नियाँ तथा अन्य धात्रियाँ भी कहती हैं—'पता नहीं कैकेयीको क्या हो गया अकस्मात् जो उसने अनर्थ कर डाला। उसे तो रामको छोड़ किसीसे कभी स्नेह रहा ही नहीं। 'मेरा राम' 'मेरा राम' एक ही रट थी उसकी और रामको गोदमें लिये घूमती—गोदमें लिये बैठती, गोदमें लिये सोती। न रामको उसकी गोदके बिना चैन और न उसे रामके बिना। चक्रवर्ती महाराज जब रामको गोदमें उठा लेते, कैकेयी उल्लसित देखती रहती। किन्तु दूसरे शिशुओंको उसकी गोद भाग्यसे ही मिली होगी। भरतको उसका दूध मिला ही कितना। यह तो दैवका दुर्विधान।' किन्तु अब उस बातको जाने दो।

सुभद्र! मेरी जननी तो व्यवस्थामयी रही हैं। उन्हें व्यवस्थासे ही अवकाश नहीं रहा। हम दोनों सहोदरोंको उन्होंने अग्रजोंका अनुगामी बनाकर धन्य किया। वे अल्पभाषिणी हैं, किन्तु जब कुछ बोलती हैं—उनके एक-एक शब्द अन्तःपुरमें अमूल्य माने जाते हैं।

वैसे हम तीन माताओंके पुत्र हैं, यह बात केवल औपचारिक है। हममें-से प्रत्येक क्षुधातुर होनेपर उसी जननीका स्तन्य पा जाता रहा जो उस समय समीप हो। हम सबके लिए सभी माताओंकी गोद, स्नेह और वात्सल्य निज जननीकी गोद, स्नेह एवं वात्सल्य था। प्रत्येक माताके हम चार पुत्र थे और हममें से प्रत्येकके लिए तीन मातायें थीं।

अश्वमेध यज्ञकी अपार व्यस्ततामें अवसर नहीं मिला सुभद्र कि मैं तुम्हें अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट्के राजसदनका अन्तःपुर दिखा पाता।' कुमारने मन्त्रीकी ओर सस्नेह देखा।

'महाराजका असीम अनुग्रह भाजन रहा है यह जन।' सुभद्रने हाथ जोड़े—'उस अनुग्रहके स्मरणसे आज भी उल्लसित होता हूँ। सुर-श्रेष्ठ जिनके पादपीठ तक पहुँच नहीं पाते—माताओं एवं जननियोंको प्रणिपात करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ मधुपुरके इस तुच्छ सेवकको।'

'चक्रवर्ती महाराजका अन्तःपुर अमरावतीको नित्य लज्जित करता रहा है। हम शिशु चार थे और अन्तःपुरमें मातृस्नेह पूरित हृदय सहस्राधिक थे। अयोध्याके घर-घरकी मातायें, विप्र-पत्नियाँ, ऋषि-पत्नियाँ—स्नेहका सागर उमड़ पड़ा था अयोध्यामें।

'उस अपार स्नेह सागरकी उत्ताल तरङ्गोंपर दो इन्दीवर एवं दो स्वर्णकमल क्रीड़ा करते थे।' देवी श्रुतिकीर्तिने इस बार तनिक उल्लास दिखाया चर्चामें।

'तुम तो कवियित्री हो प्रिये !' कुमारने केवल देखा । आज उनके अधरोंपर स्मित आ सके—अन्तरमें कहाँ रस रहा था। देवीने सलज्ज भावसे मस्तक किञ्चित् झुका लिया ।

मझली माता कहती हैं—'भरत न रूठना जानता था, न खीझना। किसी वस्तुके लिये कभी वह मचला नहीं । उसे जो दे दिया उसीमें सन्तुष्ट।'

माँ कहती हैं—'राम बहुत चञ्चल और हठी था। वह तो जैसे-जैसे बड़ा होता गया, वैसे-वैसे गम्भीर होता गया है । अपने शैशवमें वह जिस वस्तुके लिए मचल जाता था, उसे लेकर ही मानता था और उसकी चञ्चलताका तो पूछना ही नहीं था। चाहे जब चपलता करता ही रहता था। लेकिन नन्हेंपनमें भी उसने अपने अनुजोंकी किसी वस्तु—किसी खिलौनेको लेनेको हाथ नहीं बढ़ाया और बहुत मचलकर बहुत हठ करके उसने जो वस्तु ली, उसे भी उसी क्षण यदि उसका कोई छोटा भाई देखनेको भी हाथ बढ़ा देता तो वह वस्तु झट राम उसे दे देता और देकर भरपूर प्रसन्न होता।'

छोटी माँ तो बार-बार कहा करती थीं—'मेरा राम तो देनेके ही लिए आया है। छोटे भाइयोंको तो दूर–उसने कभी किसी भी बालकके बढ़े करको रिक्त नहीं लौटाया, भले वह उसकी कितनी भी प्रिय वस्तुके लिए बढ़ा हो और उसने कभी किसी बालककी कोई वस्तु पानेकी आकांक्षा नहीं की।'

शैशवसे मेरे सहोदर अग्रज श्रीरघुनाथके नित्य अनुगत रहे और मैं तो सबसे छोटा था। सबका स्नेह भाजन—सब मेरा ध्यान रखते थे। वैसे सभी—पिताजी तक कहते थे—'शत्रुघ्न तो भरतके पीछे ही लगा रहता है।'

श्रीराघवेन्द्र तो सबके थे । क्रीड़ामें भी उनका औदार्य, उनकी वत्सलता उमड़ती रहती थी। उनमें कोई भेद-भाव नहीं था। अवधके सभी बालकों—समस्त सखा-मण्डलके वे अपने थे—सबके प्राणाधिक प्रिय थे और उनको सबका पल-पल ध्यान रहता था । वे सबका मन रखते थे, सबको प्रसन्न किया करते थे।

सुभद्र ! तुमने कहीं ऐसे शिशुओंका समुदाय देखा है—जिनमें कभी झगड़ा न होता हो ? जो परस्पर उलझते न हों और उनमें स्पर्धा न जागृत होती हो ?

सुभद्रने केवल श्रद्धासे मस्तक झुका लिया। उनकी दृष्टि कह रही थी—'देव ! मर्यादा-पुरुषोत्तमके शैशवकी समता सृष्टिके सामान्य शिशु कर कैसे सकते हैं ?'

'महर्षि वशिष्ठकी अर्धाङ्गिनी विश्ववन्द्या माता अरुन्धतीसे सुना है मैंने, कुमार कहते गये—'राम तो त्रिलोकीका भूषण है । उसका शैशव ही त्रिभुवनमें अपूर्व रहा। उसकी बालमण्डलीमें न कभी स्पर्धा जागी और न कभी शिशु परस्पर उलझे । सब शिशु चाहते थे कि वे सबसे अधिक श्रीरामकी सेवा कर सकें, उनके समीप रहें, उनके इङ्गितका पालन करके उनको प्रसन्न करें । परस्पर भी कोई विवाद इस भयसे नहीं होता था कि कहीं श्रीरामको उससे खिन्नता न हो और श्रीरघुनाथ तो सबके थे ही।'

हम थोड़े बड़े हुए और स्पर्धात्मक खेल भी होने लगे। हम बालकोंका यूथ दो दलोंमें ऐसे खेलोंमें झट विभक्त हो जाता। एक दलके नायक श्रीराम और दूसरेके श्रीभरतलाल।

ऐसी क्रीड़ाओंमें दलके नायकोंके अतिरिक्त दूसरे प्रायः सब बालक पूरे उत्साहसे अपने दलको विजयी बनानेका प्रयत्न करते थे । मेरे सहोदर अग्रज भरपूर चेष्टा करते थे कि श्रीराम विजयी हों और मैं अपने दलकी विजयके लिए कुछ उठा नहीं रखता था। लेकिन हमारे नायकोंके प्रयत्न हमसे सदा उलटे रहते थे। श्रीराम कभी खुलकर खेलते नहीं थे। वे हाथमें आयी जीती बाजी जान-बूझकर हार जाते थे और हारकर खुलकर हँसते थे। उल्लसित होकर भाई भरतकी प्रशंसा करते थे । श्रीभरतलालकी अवस्था भी ऐसी ही थी। वे भी यही देखते रहते थे कि कैसे अपना दल हारे और श्रीराम विजयी हों।

'कभी हम लोगोंके प्रयत्न सफल होते थे और कभी हमारे नायकोंके। विजयका दृश्य भी हमारा अद्‌भुत होता था । श्रीरामका दल जयी हो गया तो श्रीराघवेन्द्र ऐसे हो जाते जैसे उनका उस दलसे सम्बन्ध ही नहीं । वे यही मानते---किसी अमुक तनिक-सी भूलसे भरत जयी नहीं हो सके। और कहीं हमारा दल जयी हो जाता—श्रीभरतजीका मुख नहीं उठता सङ्कोचके मारे।'

'देव !' सुभद्र भरित कण्ठ बोल रहे थे—'अवधका चक्रवर्ती सिंहासन जिनके मध्य कन्दुकके समान ठुकराता फिरा, उनका वह औदार्य

शैशवमें ही व्यक्त था तो उसमें आश्चर्य क्या ? जगती धन्य हुई उस शैशवसे और उसके श्रवणसे मेरे श्रवण आज सार्थक हुए ।'

'सुभद्र ! मेरे अग्रज—मेरे स्वामी-सा शील-निधान त्रिभुवनमें न हुआ, न हो सकता है ।' कुमारका कण्ठ भर आया—'शैशवमें कोई मुट्ठीभर तो दूर एक चिटकी धूलि उठाकर उनकी ओर बढ़ा देता था तो उसे वे ऐसे उल्लाससे ले लेते थे—जैसे अपूर्व सम्पत्ति प्राप्त हुई हो तथा इतना उपकृत मानते थे अपनेको उस शिशुका कि कोई उस दशाका अनुमान तक नहीं कर सकता ।'

'भाग्यने साथ नहीं दिया । शैशवसे जिनके सम्मुख सङ्कोचके कारण कभी बोल नहीं सका था ……।' दो क्षणको कुमार चुप हो गये । उनके कमलदलायत नेत्रोंसे बिन्दु टपकने लगे ।

'असमयका शोक है देव.!' देवी श्रुतिकीर्तिने अपने आराध्यको सावधान किया—'आजकी रजनी उन मर्यादापुरुषोत्तमके भुवनपावन चरितोंको स्मरण करनेके लिए हमने समर्पित कर दी है । शोकके लिए जीवनमें क्या कम समय रहा है और आगे ही दैव पता नहीं…· ·· ।'

बात अधूरी रहकर भी अपना वेधक रूप पूरा कर चुकी थी । सुभद्रके नेत्र भी बिन्दु टपका रहे थे । वातावरण आर्द्र हो रहा था । कौन जाने निशाके नेत्र-बिन्दु भी इसी समय दल-पत्रोंपर इस वेदनामें पड़ रहे हों ।

'तुम ठीक कहती हो देवि !' कुमारने उत्तरीयके छोरसे ही नेत्र पोंछ लिये—'आजकी निशाके ये धन्य क्षण व्यर्थ व्यतीत करनेके लिए नहीं है ।'

—✻—

४—कुमार-क्रीड़ा—

श्री रघुनाथकी रीझ बहुत अद्भुत रही है सुभद्र ! शैशवमें उनका एक काक पर अमित स्नेह था। वे उसके साथ अनेक प्रकारकी क्रीड़ा करते थे और वह काक भी उनके साथ ही लगा रहता था, यह बात मैंने धातृयों से सुनी है।

कैशोरमें एक स्वर्ण वर्ण लघु कपि पर वे रीझ उठे। अब तो हम सब उस कपिको जानते पहिचानते हैं, किन्तु उस समय उसे उसके एक मात्र आराध्यने ही पहिचाना था।

'वह कपि ?' देवी श्रुतिकीर्तिने पूछा।

'हमारे केशरी कुमार श्रीहनुमानजी' शत्रुघ्नजीने परिचय स्पष्ट कर दिया—'लेकिन उस समय वे इतने छोटे कपि वेशमें थे कि उन्हें पहिचान पाना कठिन था। तुम तो जानती हो कि वे कामरूप हैं।'

'श्रीअञ्जनेय अयोध्यामें पहिले भी रह चुके हैं ?' इस बार सुभद्रने प्रश्न किया ।

'वही बतला रहा हूँ' कुमारने प्रारम्भसे यह प्रसङ्ग सुनाया—'श्री अवधमें एक दिन एक मदारी आया। अद्भुत था वह मदारी भी। उस दिनके पश्चात् उसे फिर किसीने नहीं देखा। कह नहीं सकता—पवनकुमारके किस सुहृदने उन्हें अयोध्या पहुँचानेके लिए वह वेश बनाया था।'

'मदारीके डमरूका डिम्-डिम् स्वर गूँजा और हम सब बालक दौड़ गये। बड़ा सुन्दर स्वर्ण-रोमा छोटा-सा कपि था मदारीके साथ रस्सीमें बँधा। जैसे ही हम पहुँचे कपि आकर श्री रघुनाथके चरणोंमें लेट गया। बड़ी देरमें उठा भी तो उसने हम सबके पदोंमें मस्तक रखा और फिर तो उसने इतनी क्रीड़ाएँ प्रदर्शित कीं कि हम सब मुग्ध हो गये।'

'मैं वह कपि लूँगा' सहसा श्री रघुनाथ दौड़े गये और सिंहासनासीन चक्रवर्ती महाराजकी गोदमें बैठकर आग्रह करने लगे। पूज्य पितृचरणने मदारीको राज-सभामें बुलवाया और हमसबने एक बार फिर कपिक्रीड़ा देखी।

'राम भद्र तुम्हारा कपि चाहते हैं' पितृ-चरणने बड़े कोमल स्वरमें मदारीसे अनुरोध किया—'तुम यथेच्छ पुरस्कार लेकर इसे देदो !'

मदारी तो जैसे इसीलिए श्रीअवध आया ही था। उसने कपिकी रस्सी श्रीरघुनाथके हाथमें दे दी—कुमार इसे लेकर पहिले नचा देखें, पुरस्कारकी चर्चा पीछे होगी।'

'ठहर, पहिले तेरा बन्धन खोल दूँ।' श्रीरघुनाथने कपिके कण्ठसे रस्सी खोलना प्रारम्भ किया। कुछ लोगोंने मना किया कि कपि भाग जायगा; किन्तु हम सबको यह अच्छा लगा। इतना सुन्दर कपि—विचारा बँधा कष्ट पाता होगा।

'तू भागना मत' सृष्टिमें जिसके आदेशको टालनेकी शक्ति किसीमें नहीं, उन्हीं श्रीराघवने कपिको बन्धन मुक्त करके आदेश दिया—'अब क्रीड़ा प्रदर्शित कर।' और कपिने इस बार अपनी पहिले प्रदर्शित क्रीड़ाओंसे बहुत उत्कृष्ट क्रीड़ाएँ प्रदर्शित कीं।

हम सब तो बालक ही थे—राज सभाके वृद्ध एवं विप्रवृन्द तक उस कपि-क्रीड़ाको देखनेमें तन्मय हो गये थे। क्रीड़ा समाप्त होने पर मदारीका पता नहीं था। उसे श्रीचक्रवर्ती महाराजने बहुत अन्वेषण कराया; किन्तु जिसे मिलना नहीं था, वह कैसे मिलता।

कपि श्रीरघुनाथके पीछे लगा रहता था। रात्रिमें भी वह उनकी शैय्याके नीचे ही सोता था। मैं तथा मेरे अग्रज अनेक बार उसकी पूँछ खींचते थे; किन्तु वह दाँत दिखानेके बदले आकर पैरोंमें लेट जाया करता था।

'हमने तो आपके उस कपिको देखा नहीं।' देवी श्रुतिकीर्तिने पूछा।

'बहुत समय वह श्रीअवध नहीं रहा।' कुमारने बताया—'केवल कुछ मास रहा और फिर पता नहीं कब कहाँ भाग गया; किन्तु श्रीरघुनाथ उसके लिए आकुल नहीं हुए। सम्भवतः वह उनके इङ्गितको पाकर ही गया था।'

* * * *

'हमारे सखाओंका मण्डल पर्याप्त विस्तृत था। उसमें सभी पर श्रीरघुनाथका स्नेह था। बालकोंमें न जाति भेद होता और न समाजकी विभिन्न मान्यताओंकी कृतिम भित्तियाँ। राजसेवक हमारे साथ रहते

अवश्य थे ; किन्तु वे हमारी क्रीड़ा एवं प्रजाके बालकोंसे हमारे उन्मुक्त मिलनके बाधक नहीं बन सकते थे। उन्हें केवल दर्शक रहना था।

हम तीनों भाई तो अपने अग्रजके अनुगामी थे ; किन्तु अपनी अत्यल्प वयमें ही श्रीरघुनाथने वृद्धों, दुर्बलों, एकाकी जनोंकी सहायता प्रारम्भ कर दी थी।

सुभद्र ! रघुवंशीका बालक जन्मसे ही कुछ बातें सीखे आता है। मुनि-कुमारोंका क्रीड़ामें भी हम सम्मान करते थे। किसी भी बालकके खिलौनों या किसीकी भी कोई वस्तु लेनेकी इच्छा हमारे मनमें कभी नहीं हुई। क्रीड़ामें भी किसीने प्रतिस्पर्धाकी इच्छा की तो हमने नहीं सोचा कि प्रतिस्पर्धी हमसे कितना सबल है और अपनेसे छोटे एवं दुर्बलोंकी रक्षा तथा उन्हें सुविधा प्रदान करनेका भाव खेलमें भी हममें सदा बना रहा।

मैं छोटा था, अतः तीनों अग्रजोंका मुझे स्नेह प्राप्त होता था। तीनों ही मुझे अधिक सुविधा देना चाहते थे और मेरा सौभाग्य—देवता भी उस पर ईर्षा करें। भुवन सेव्य मेरे तीनों अग्रज और उनके पाद स्पर्श तथा उनकी सेवाका मुझे सौभाग्य प्राप्त था—शैशवसे।

चक्रवर्तीके कुमारोंके संस्कार जिस धूमसे सम्पन्न होते हैं, तुम उससे परिचित हो। हमारे सभी संस्कार महर्षि वशिष्ठजीकी अनुकम्पासे सांग सम्पन्न हुए और हम इस योग्य हो गये कि द्विजत्व प्राप्त करें।

सुभद्र ! अपने बाल्यका मुझे बहुत कम स्मरण है। जो स्मरण है भी, उसमें श्रीरघुनाथके अपार स्नेहका ही सर्वत्र प्राधान्य है। उनका वात्सल्य पावसके उमड़ते मेघके समान छाया है मेरे समस्त जीवन पर।

उपनयनकी चर्चा पीछे करूँगा। हमारे बाल्य-कालकी घटनाएँ कम हैं ; किन्तु जो भी हैं उन्होंने एक अमिट छाप छोड़ दी है मन पर।

उस दिन हम सब सरयू स्नान करने प्रस्तुत हुए। पितृ चरणने आज्ञा दे दी थी। ग्रीष्मकालमें हमें यह अनुमति मिल जाया करती थी। पावस एवं शरदमें तो माताएँ भवनसे बाहर स्नानके लिए जानेकी अनुमति दे ही नहीं सकती थीं और तुम जानते ही हो सुभद्र ! कि हमारे कुलमें माता-पिताकी आज्ञा श्रुतिके समान ही अनुल्लंघनीय रही है। अपने बाल्यमें भी हमने इसका सदा पालन किया।

हम सरयू स्नान करने आते थे तो नगरके हमारे सखाओंका मण्डल भी साथ ही आता था। जल सन्तरणमें कुशल सबके साथ रहते थे तथा

स्नानमें सहायता देने वाले सेवक, वस्त्र-तैलादि वाहक तो साथ आते ही थे।

ग्रीष्ममें स्वच्छ-सलिला सरयूमें इतना जल ही रहता है कि बालक निरापद स्नान कर सकते थे। किसी स्थल पर ही जल गहरा रहता है। सन्तरण कुशल संरक्षकोंकी सेवा कभी आवश्यक नहीं हुई। वे केवल कुछ क्षण सन्तरण शिक्षा देकर पृथक हो जाते थे। दूसरे सेवक भी तट पर रहते थे। हमारी बाल-मण्डली निर्बाध, निर्द्वन्द जल क्रीड़ा किया करती थी।

इसी प्रकार एक दिन हम सायं स्नान कर रहे थे । श्रीरघुनाथ जल-क्रीड़ा करते हुए सखाओंसे कुछ पृथक हो गये और सहसा उन्होंने कहा—'कोई मेरे पद पकड़कर मुझे जलमें खींच रहा है।'

सचमुच कुछ पद दूर एक ह्रद था सरयूमें और उधर ही श्रीरघुनाथ खिंचेसे जा रहे थे। क्षण ही लगे होंगे सुभद्र ! किन्तु वे क्षण जैसे युगोंसे प्रतीत हुए। समस्त सखा मण्डल चीत्कार कर उठा। श्रीभरतजी स्तम्भितसे रह गये और मेरे सहोदर अग्रज—उनकी तेजस्विता तुमने देखी नहीं। उनका मुख अङ्गार हो उठा। वे पता नहीं क्या कर डालते; किन्तु श्रीरघुनाथका दूसरे ही क्षण स्वस्थ स्वर आया—'लक्ष्मण !' और मेरे वे सहोदर अग्रज संकुचित हो गये।

मैं अपनी क्या कहूँ। मुझे लगा कि कूद पड़ूँगा श्रीरघुनाथके पहुँचनेसे पूर्व ही ह्रदमें और जो कोई भी मेरे महान अग्रजके पद पकड़े होगा, उसे देख लूँगा। किन्तु मैं सबसे छोटा—अपनेसे बड़े उपस्थित हों तो मुझे चपलता नहीं करनी चाहिए—यह स्मरण भी उस क्षण मुझे नहीं रहा था।

सन्तरण कुशल सेवक ही नहीं, दूसरे सभी सेवक एक साथ जलमें कूद पड़े थे झम्-से ; किन्तु किसीको कुछ करनेका अवसर नहीं मिला। श्री रघनाथने स्वयं अपने दूसरे पदसे पद पकड़ने वाले जीवको दबाकर अपना पद छुड़ा लिया था और वे सबको आश्वासन देने लगे थे।

'कौन था वह धृष्ट जीव ?' सुभद्रने पूछा।

'हममें किसीने उसे देखा नहीं।' कुमारने बताया—'महर्षि वशिष्टने पीछे राज सभामें कहा था—'रामभद्रके श्रीचरण पतितोद्धारक हैं। कोई प्रशप्त, पतित प्राणी उनका स्पर्श करके पावन होना चाहे—हम सबको इसमें किञ्चित भी चिन्तित होनेका कारण नहीं है। श्रीरामके पद असुर पकड़े या जल-चर,उसका उद्धार होगा ही।'

महर्षि सदाके गूढ़ भाषी हैं । उनकी वाणीका ठीक तात्पर्य कहाँ किसीकी समझमें आता है ; किन्तु उन्होंने कहा कि 'चिन्तित होनेका कारण नहीं है' यह उनका आश्वासन सभीके लिए पर्याप्त था । सभी जानते हैं कि महर्षिके शब्दोंको अन्यथा करनेकी शक्ति तो स्वयं उनके पिता सृष्टिकर्तामें भी नहीं है ।

* * * *

'यह कुमारके लिए' 'यह कुमारको प्रिय लगेगा' अयोध्यामें मेरा यही नाम है और बचपनसे श्रीरघुनाथका अमित वात्सल्य पाया मैंने । प्रातः उठते ही वे मेरा स्मरण करते—'कुमार कहाँ है ?' उन्हें जो प्रिय वस्तु माताऐं या तात-चरण देते—उसे वे लिये हुए मेरे पास दौड़े आते—'कुमार ! देख मैं क्या लाया हूँ तेरे लिए ।' जिनके प्रसादकी प्राप्ति लोकपालोंका परम सौभाग्य है, भगवान नीलकण्ठ भी जिनके नित्य आकाँक्षी रहते हैं, मैं उनके प्रसादका नित्य भोजी, उसका स्वभाव सिद्ध अधिकारी हो गया—इतना अपार सौभाग्य मिला मुझे ।

मैं अपने महान अग्रजके सम्मुख बोल नहीं पाता था । अब भी बोल नहीं पाता हूँ ; किन्तु उन्होंने मेरी रुचि सदा रखी । क्रीड़ाके प्रारम्भमें प्रायः वे मेरे मुखको ओर दृष्टि उठा लेते—'कुमारको यह क्रीड़ा प्रिय लगेगी !' उनकी दृष्टि सदा मेरी रुचि पढ़ लिया करती थी सुभद्र !

'वह स्नेह, वह शील, वह औदार्य'—कण्ठ गद्गद् हो आया । किसी प्रकार सम्हाला कुमारने अपने आपको—'सभी सखा चाहते थे श्रीरघुनाथकी सेवा अधिकाधिक उन्हें प्राप्त हो । सबको ही लगता था कि उन पर ही श्रीरघुनाथका सर्वाधिक स्नेह है । वे सबके मनको रखलेनेमें समर्थ हैं ।

प्रातः हुआ और मित्र मण्डल राज-सदन पहुँचने लगा । हम सब प्रायः साथ ही स्नान करते, जलपान करते और मध्याह्न भोजन भी करते थे । मित्रोंका मण्डल केवल रात्रिमें अपने घरोंको जाता था और वह भी तब—जब एक-एकको आग्रह पूर्वक श्रीरघुनाथ अङ्कमाल देकर विदा करने थे ।

राजसदन, सरयू-पुलिन, अवधके राज-पथ एवं चतुरष्क—हम बालकों-की धूम सर्वत्र दिशाओंको मुखरित किये रहती थी और अवधका प्रत्येक सदन हमारा अपना ही सदन तो था । हममें किसीकी इच्छा होने पर हम

किसी भवनमें पहुँच जाते और लगता था—गृहपति एवं गृह-स्वामिनी माताएँ हमारी प्रतीक्षा ही किया करती थीं।

श्रीरघुनाथके स्नेहने सम्पूर्ण अयोध्याको एक सदन—एक परिवार बना दिया था सुभद्र ! आज भी वह अयोध्या एक परिवार ही है; किन्तु आज श्रीरघुनाथ प्रजा-पालक हैं और उस समय सबके स्नेह भाजन थे।

'शिशु, सदा शिशु तो नहीं रहता देव !' सुभद्रने कहा—'फिर जो नित्य जगत्पिता हैं—उनको अपने स्वरूपमें आना ही चाहिए था।'

—×—

५—गुरु-गृह

"गुरु गृहँ गए पढ़न रघुराई।
अलप काल विद्या सब आई॥" —मानस

हमारा उपनयन हुआ और हमने द्विजत्व प्राप्त किया, हम चारों भाइयोंके मस्तक मुण्डित हुए। कटिमें मौञ्जी-मेखला, हाथमें पलाश-दण्ड एवं स्कन्ध पर ऐणेयाजिन उत्तरीय—सुभद्र ! अपने उस बाल्यकालमें भी मुझे उस दिन अद्‌भुत गौरवका अनुभव हुआ। कितना पवित्र, कितना गरिमा गर्भित है हमारा ब्रह्मचारी वेश।

श्रीरघुनाथने भिक्षा झोली उठायी और हम तीनों भाई तो उनके अनुगत थे। हमारे लिए झोलियोंको सम्हालना दो क्षणमें ही अशक्य हो गया। मुनि कुमारोंने हमें सहायता दी और रघुवंशके कुलगुरुके चरणोंमें बार-बार हमारी झोलियाँ प्रदीप्त मणि-रत्नोंकी राशि उड़ेलने लगीं।

हमारे कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ—वे त्याग की जागृत ज्योति, उनमें कहाँ सम्पत्तिकी स्पृहा है और साक्षात् कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी जिनके आश्रमको सुशोभित करती है, अप्राप्य क्या है उन्हें। वे तो गृहीता रहे नहीं कभी। रघुवंश पर कृपा करके वे अवसर विशेष पर प्रतिग्रह स्वीकार करते हैं और वह भी तत्काल दान कर देते हैं।

महर्षि उस दिन अद्भुत रूपमें भाव विभोर हो रहे थे। रत्नराशि दोनों करोंसे लुटा रहे थे वे और उनके नेत्रोंसे हर्षविह्वल वारिधारा चल रही थी।

'वत्स !' बार-बार वे श्रीरघुनाथको हृदयसे लगा लेते थे। उपनयन-क्रिया समाप्त होनेपर महर्षिने हमें अपने साथ आश्रम चलनेकी अनुमति दी। अवशिष्ट रत्न राशि, कौशेयाम्बरका अम्बार, अन्न एवं स्वर्ण पात्रोंकी पर्वताकार राशि—महर्षिने चलते-चलते केवल चक्रवर्ती महाराजको आदेश दिया—'मेरी ओरसे यह सब विप्रवर्ग एवं उन दीनजनोंको वितरित करा दें—जो स्वीकार करनेकी कृपा करें।'

तुम जानते ही हो सुभद्र, कि हमारे श्रीअवधमें याचक नहीं रहते। अकिञ्चन कोई है नहीं। रघुवंशके सभी सिंहासनाधीशोंका स्वभाव रहा है कि उनके चर पता लगाते रहते थे—'नगरमें कोई किसी अभावका अनुभव-तो नहीं करता।' प्रजा अभाव पीड़ित हो, इससे पूर्व ही उसके समीप वह वस्तु पहुँचा देनेमें शासक सतर्क न रहे—अवधके सिंहासनपर वह बैठ सकेगा ?

किन्तु सुभद्र ! पितृ चरणपर अवधके विप्रों, सूत, मागध, वन्दीजनों-का असीम अनुग्रह है। वे अनुग्रह करके, सम्राटको दाताका श्रेय प्रदान करनेके लिए उसका दान समय-समय पर स्वीकार करलेते हैं। उसे गौरवा-न्वित करनेके लिए उससे याचना करने राजद्वारपर पधारते है। अन्यथा यह बात किसीसे छिपी कहाँ है कि अवधका याचक भी सदा दाता रहा है।

* * * *

गुरुदेवका पदानुसरण करते हम चारों भाई उस दिन पदातिनग्नपद राजभवनसे निकले और आश्रम आये। मार्ग पुष्प-वृष्टिसे आच्छन्न हो गया। लाजा, अक्षत्, हरिद्रा, दुर्वाकुर—लगता था आज गगनभी इन्हीं मङ्गल द्रव्योंकी वर्षा कररहा है। वाद्य-ध्वनि, शंखनाद एवं वेद-पाठके मध्य परस्पर कोई किसीका शब्द सुन नहीं सकता था। मुनिमण्डली, अवधके विप्रवर्ग एवं मुनिकुमार स्वस्ति पाठ करते हमारे साथ आश्रम तक आये।

जैसे आज भी वह दिवस नेत्रोंके सम्मुख है। सन्ध्याकालीन मेघके समान अरुणवर्णा, शृङ्गान्तर श्वेता महर्षिकी यज्ञ धेनु नन्दिनी आश्रम द्वारपर सवत्सा सम्मुख प्राप्त हुई। हमारा सर्वप्रथम स्वागत उस कामधेनुकी महिमामयी पुत्रीने किया।

हुम्मा !' नन्दिनीने हुंकारकी । महर्षिने उसे मस्तक झुकाया ; किन्तु वह आगे बढ़ी आरही थी । श्रीरघुनाथने त्वरित गतिसे पृथ्वीमें पड़कर उस नित्य अनुग्रहमयीको साष्टाङ्ग प्रणिपात किया । हम तीनों भाइयोंने अपने महान अग्रजका अनुकरण किया ।

'हुम्मा ! हुम्मा !' नन्दिनी बार-बार मुख घुमा-घुमाकर हममें से प्रत्येकका मस्तक सूँघ रही थी और उसके चारों स्तनोंसे दुग्धकी उज्वल धारा निर्बाध गिर रही थी ।

हमने घुटनोंके बल बैठकर उसकी चरणरज मस्तकपर धारणकी । इतनेमें तो नन्दिनीका वत्स हममें-से प्रत्येकके चारों ओर जाने कितनी बार उछल घूम आया । हमने उसे भी प्रणिपात किया और उसने हममें से प्रत्येकका मस्तक सूँघा ।

* * * *

'इक्ष्वाकु गोत्रीय रघुवंशी दाशरथि राम श्रीचरणोंमें प्रणिपात करता है मातः !' हम आश्रम द्वारमें प्रविष्ट हुए और सम्मुखही हमें तपस्या एवं पातिव्रत्यकी अधिदेवता जगन्माता महर्षि-पत्नी देवी अरुन्धतीके दर्शन हुए । श्रीरघुनाथने सविधि प्रणिपात किया और उनके साथ हम सबने भी ।

'वत्स, रामभद्र !' महर्षि पत्नीका कण्ठ गद्-गद्हो गया था । उन्होंने एक साथ हम चारोंको उठाकर अपने अंकमें ले लिया । हमारे मस्तक उनके नेत्र-सलिलसे सिञ्चित होकर धन्य होगये । किस अश्वमेध—राजसूय-का अवभृथ स्नान इतना पावन एवं महत्तम हो सकता है सुभद्र !

हमें माताओंसे शत-सहस्र गुणित वात्सल्यमयी माताके रूपमें महर्षि-पत्नी प्राप्त हुई । महर्षिका स्नेहतो सदाही हमें प्राप्त रहा है । मुनि कुमारोंका समूह हमें अपना परम प्रिय मानता था । हम तपोवनमें, आश्रममें क्या गये सुभद्र—स्नेह, वात्सल्य, अनुग्रहकी अपार प्रवाह धाराने हमें उन्मज्जितकर दिया । इतना वात्सल्य, इतना अनुग्रह अयोध्याके राज सदनमें हमने कभी अनुभव नहीं किया था ।

'वत्स रामभद्र ! तेरे अनुज अत्यन्त संकोचशील हैं, माता अरुन्धती क्षण-क्षण पूछती थीं—'वत्स ! तू कोई क्लेश तो नहीं पाता ? अपने अनुजोंके स्वभावको तू सूचित नहीं करता वत्स ।'

'आपके अङ्कमें अभाव एवं क्लेशकी छाया भी कहाँ आ पाती है मातः!' श्रीरघुनाथ चरण स्पर्शकर लेते थे।

* * * *

'यथेच्छं ब्रह्मचारिणाम्' ब्रह्मचारी बालकके लिए भोजन पर तो प्रतिबन्ध है नहीं कि वह कितनी बार खावे और क्या खावे। जब भूख लगे, जितनी बार भूख लगे, उसे भोजन करनेकी छुट्टी, और वह क्या खावे—इसका निरीक्षण गुरुदेव करही लेते हैं। सुभद्र ! हमें तो राजभवनकी अपेक्षा सुविधाही प्रतीत हुई। सुस्वादु कन्द, मूल, फल एवं नन्दिनीके अमृत-पयमें पक्व नीवार। दुग्ध-दधि-नवनीतका प्राचुर्य था आश्रममें।

'रामभद्र ! तुम और तुम्हारे अनुज बहुत संकोच करते हैं !' माता अरुन्धती बार-बार आग्रह करतीं—'बालकोंको पर्याप्त भोजन करना चाहिए। तुम सब इतना अल्पाहार क्यों करते हो ?'

राज-सदनके पक्वान्न एवं विविध व्यञ्जनोंका अभाव वहाँ ज्ञात हो ही नहीं सकता था। हुआ तो यह था कि नवीन नवीन पदार्थ, नवीन कन्द एवं फल नित्य प्राप्त होते थे और इतने परभी माता अरुन्धती व्यस्त रहती थीं कि 'इन बच्चोंको आज क्या प्रस्तुत करके देना है।' उनके श्रीकरोंका प्रस्तुत प्रसाद—सुरोंमें भी कौन ऐसा है जो उसे पानेकी आशापर बुभुक्षु नहीं हो उठेगा ?

'ब्रह्मचारी भिक्षाटन करें' यह विधि है; किन्तु महर्षि वशिष्ठके अन्तेवासियोंने तो कभी भिक्षाटन किया नहीं। निखिल कामदा नन्दिनी जहाँ निवास करती है, वहाँ भिक्षाटनकी आवश्यकता ? और अयोध्याके सिंहासनाधीश क्या इतने प्रमत्त हो सकते हैं कि उनके कुलगुरुके अन्तेवासियों-को उदरपूर्तिके लिए भिक्षा मांगनी पड़े।

हम जबसे गुरुगृह गये, नन्दिनी बहुत कम वनमें रहती थी। वह मध्याह्नसे पूर्वही भाग आती अरण्यसे और हम कुछभी करते हों—हमारे समीप ही घूमती रहती। दो-दो चार-चार क्षण पर उसकी हुँकृति गूँजती और श्रीरघुनाथ मस्तक झुकाकर कहते—'मातः।'

नन्दिनी सुरधेनु है और हमपर उसका वात्सल्य अपने बछड़ेसे भी अधिक था। वह पता नहीं कैसे-कैसे अद्भुत पदार्थ प्रकट करती और महर्षि आज्ञा देते—'वत्स रामभद्र ! नन्दिनीके स्नेहका प्रसाद तुमको भाइयोंके साथ स्वीकार करना चाहिए।'

नन्दिनीका वत्स तो हमारे आसपासही फुदकता रहता था। वह तो प्रातः सायं माताके स्तनोंमें मुखभी तब लगाता था, जब मेरे सहोदर अग्रज उसे पकड़कर उसका मुख उसकी माताके स्तनोंसे लगा देते थे।

* * * *

हम मृग-चर्म एवं वल्कल पहिनते थे। आभूषण हमने त्याग दिये थे और वेदिकापर शयन करते थे। लेकिन इन सब कार्योंमें कोई तितिक्षा नहीं थी सुभद्र! अत्यन्त सुकोमल मृग चर्म नित्य नवीन, पता नहीं कहाँसे माता अरुन्धती प्रस्तुतकर देती थीं और हमारे पहिले दिनका मृग चर्म कोई न कोई सहपाठी उठा लेते और स्नेह पूर्वक हँसकर कह देते—'अब यह आप लोगोंको कभी नहीं मिलेगा।'

नन्दिनीने ऐसे वल्कल प्रकट करने प्रारम्भ करदिये थे कि उनकी सुकोमलता एवं स्वच्छता किसी कौशेयाम्बरमें प्राप्त करना अशक्य है।

मुनि कुमार हमारी शयन वेदिकापर कुशास्तरण करके उसपर किसलय सज्जित करते और तब पाटल-दलों एवं मल्लिका सुमनोंके आस्तरण पर आस्तरण लगाते चले जाते। उनके आस्तरणोंमें अद्भुत ललित कला व्यक्त होती। वे सानुराग अनुरोध करते--'राघवकुमार आज हमारी कलाको कृतार्थ हो जाने दें।'

हमारे हृदय चाहे जितने संकोचपूर्ण हों, हम किसके स्नेहको अस्वीकार करते? महर्षिके आश्रममें अपार अनुराग प्रत्येक हृदयसे उमड़ा पड़ता था और हम चारों भाई अहर्निश उसमें आशिखान्त स्नात होते रहते थे।

बस एक अभाव था सुभद्र! एक कसक जीवन भर खटकती रही हृदयमें—हम चारों भाइयोंमें किसीको गुरु-सेवाका सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। गुरु-गृह रहकर भी हमने महर्षिके आश्रमकी कोई सेवा करनेका अवसर नहीं पाया। बड़े आग्रहसे, बड़े अनुरोधके पश्चात्-गुरुदेव अपने श्रीचरण शयनकालके प्रारम्भमें कुछ क्षण दबाने देते थे—केवल कुछ क्षण। इसे सेवा तो नहीं कह सकते सुभद्र!

हम समित् कुश-पुष्पादि एकत्र करने जाते तो सहपाठियोंका समुदाय साथ हो लेता और वही सारे कार्य सम्पन्न करदेता। हम जल कलश उठाने-का प्रयत्नभी नहीं कर पाते और कोई मुनिकुमार उसे उठाकर हँसते हुए

चल देते—'यह राजकुमारोंके उपयुक्त कार्य नहीं।' आश्रमकी कोई छोटी सेवा भी हम करनेका अवसर नहीं पाते थे।

थोड़ेसे सुमन हम चारों स्वयं एकत्र करते थे। बड़े आग्रहसे हमने इतनी सुविधा प्राप्तकी थी। गुरुदेव एवं माता अरुन्धतीके श्रीचरणों पर पुष्पाञ्जलि अर्पित करनेके लिए सुमन एकत्र करनेकी सुविधाभी हमें मुनि-कुमारोंके अनुग्रहसे प्राप्त हुई। नन्दिनी एवं उसके वत्सके लिए पुष्पमाल्य हम बना लेते और बस! आश्रम-परिचर्याका सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हो सका।

* * * *

हम बहुत अल्पकाल गुरु-गृह रहे। कुल चौंसठ दिन, और इतने समयमें ही हमारा शिक्षण समाप्त हो गया।

गुरुदेवके श्रीमुखसे हमने श्रुतियोंके मन्त्र एवं धनर्वेद आयुर्वेद, गन्धर्ववेद तथा स्थापत्य वेदके मूल सूत्र सुने। षट्शास्त्रोंके भी सूत्रही सुने हमने एवं चतुषष्टि कलाके भी सूत्र ही। इतिहास-पुराणोंको अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें गुरुदेवने मध्याह्न विश्रामके समय सुना दिया।

हमारे मुख्य शिक्षकतो हमारे महान अग्रज थे। गुरुदेवके मुखसे सुने श्रुतिके मन्त्रों एवं उपवेदों, वेदाङ्गों, दर्शनों एवं कलाओंके मूल सूत्रोंको वे ऐसी सरल-सुबोध हृदयग्राही व्याख्या करके हमें समझा देते थे कि एक बार श्रीरघुनाथके मुखसे जो विवरण सुने—वे आज भी ज्यों-के-त्यों स्मृति पटल पर अंकित हैं।

श्रीरघुनाथने ही धनुर्वेद, आयुर्वेद, स्थापत्य वेद तथा कलाओंके व्यावहारिक पक्षका हमें परिचय दिया और जहाँ आवश्यकता हुई—स्वयं उपकरणोंसे सज्जित होकर उन्होंने हमें अभ्यास कराया।

इस प्रकार अत्यल्प कालमें हमारी शिक्षा-सम्पूर्ण हो गयी। हमारे भुवनवन्द्य गुरुदेव—उन्हें भला हम क्या दक्षिणा देते। उन्होंने आशीर्वाद दिया और अनुमति दी—हमारा समावर्तन संस्कार उनकी सन्निधिमें सांग सम्पूर्ण हुआ।

—×—

आखेट एवं नगर-चर्या

"पावन मृग मारहिं जियँ जानी ।
दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी ।।

❀ ❀ ❀

जेहि विधि सुखी होहिं पुर लोगा ।
करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ।।"—मानस

राजकुमारोंके भी अद्भुत कर्तव्य होते हैं । गुरुगृहसे लौटकर हमें अपने सभी कर्तव्योंके प्रति सावधान होना पड़ा । उन्मुक्त क्रीड़ा, बाल-सखाओंके साथ स्वच्छन्द खेल-कूद प्रायः समाप्त । अब हम द्विज हो गये थे । त्रिकाल सन्ध्या हमने उपनयनके दिनसे ही प्रारम्भकर दी और श्रीरघुनाथने तो अब पार्थिव-पूजन भी अपने नित्यकर्ममें सम्मिलित कर लिया था । वैसे शेष हम तीनों भाइयोंने अपने उन विश्ववन्द्य अग्रजको ही सदा अपना आराध्य माना है ।

आखेट राजकुमारोंका कर्तव्य है और उसे भी हमें अपनाना ही था । पितृचरणके आवाहन पर निषाद राजकुमार युवक गुह—जो अब निषाद राज हैं, अयोध्या आ गये । श्रीरघुनाथने उन्हें अपना सखा बना लिया । वे हमारे आखेटके मुख्य निर्देशक हुए ।

प्रथम दिन था आखेट पर प्रस्थान करनेका । हम शस्त्र-सज्ज हो रहे थे ; किन्तु मेरे चित्तमें अद्भुत उथल-पुथल मची थी । मेरे मानसिक संघर्षको मेरे सेव्यने लक्षितकर लिया और मेरे उन आदर्श श्रीभरतजीने श्रीरघुनाथके सम्मुख मस्तक झुकाया ।

'क्यों, क्या बात है भाई ? संकोचका तो कोई कारण नहीं है ।' श्रीरघुनाथने पूछा ।

'कुमार कुछ निवेदन करना चाहता है ; किन्तु वह तो अपने संकोचसे ही गूँगा है ।' श्रीभरतजीने मेरे हृदयकी बात अपने शब्दोंमें व्यक्त कर दी—'वन्य-पशुओंसे हमारी कोई शत्रुता नहीं । उन्होंने हमारा या प्रजाका कोई

अपराध नहीं किया है। उन निरपराध निरीह प्राणियोंका वध हत्या नहीं है देव ?'

'शासकवर्गका आखेट आवश्यक कर्तव्य है और वह दो आधारोंपर कर्तव्यकी श्रेणीमें आता है।' श्रीरघुनाथने समीपका आसन स्वीकार करके हमें भी बैठ जानेका संकेत किया और अपने सहज मेघ गम्भीर स्वरमें समझाया—'अरण्यवासी मानवोंकी प्राण रक्षा एवं कृषि-जीवी वर्गकी आजीविका रक्षा शासकका कर्तव्य है। जीवन एवं जीविकापर आयी आपत्तियोंसे त्राणका भार उठानेके कारण ही क्षत्रिय—क्षत्रिय है। प्रजाकी क्षतियोंसे रक्षा क्षत्रियका कर्तव्य है और अपने कर्तव्यके पालनसे मानव जगदात्माकी आराधना करता है। कर्तव्य-पालन उसे निष्पाप करके पूर्णत्व-की ओर ले जाता है।

वन्य-पशुओंमें जो उद्धत होकर अरण्यानी एवं पार्थिव मानवोंके लिए आतङ्क बन गये हैं—उनका आखेट तो अनिवार्य होता ही है, आखेटके द्वारा वन्य-पशुओंकी संख्या भी मर्यादामें रखना आवश्यक है, जिससे वे कृषि-जीवी वर्गकी आजीविकाके लिए आतङ्क न बनें।

'अतीर्थमें अतीर्थ पशुका आखेट अपराध है'—यह हम सबने सुना है। इसका अर्थ है कि घोर अरण्यमें निरपराध एवं वृद्धावस्थासे पूर्वके पशुओंका आखेट हत्या है। वन्य-पशुओंका उच्छेद नहीं होना चाहिए; किन्तु उनकी संख्या मर्यादामें रहनी चाहिए।'

'लक्ष्मण! तुम्हारी शङ्का मैं समझता हूँ।' मेरे सहोदर अग्रज मस्तक झुकाये थे। श्रीरघुनाथने उनकी ओर देखा—'मानव यदि अपनी मर्यादामें रहे, यदि वह अपने धर्मपर स्थिर रहे, यदि उसका उपार्जन धर्मपूर्ण हो और उसमें-से वह सब प्राणियोंका उचित भाग वितरित करता रहे—सचराचर सृष्टि मर्यादामें रहती है। स्वतः समस्त पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि संयममें रहते हैं और उनकी संख्या मर्यादामें रहती है। कृषि-विनाशक कीट, रोगकीट, शलभ (टिड्डियाँ) मूषक, शुकादिकी संख्या स्वयं नहीं बढ़ती। वन्यपशु संयममें रहते हैं। उनकी संख्याको आखेटसे सीमित करना आवश्यक नहीं होता।'

'आज त्रेताका पवित्र काल है। शासकके सिंहासनपर धर्मप्राण पितृ-चरण हैं, प्रजा धर्मनिरत है, अतः आखेटकी यह प्रथम आवश्यकता आज है

ही नहीं। आज तो वन्यपशु भी मर्यादामें रहते हैं और मानव अपनी मर्यादामें है, तो स्रष्टा वाध्य हैं इतर प्राणियोंकी संख्या मर्यादामें रखनेके लिए।

'आखेटकी यह प्रथम आवश्यकता मानव स्वयं उत्पन्न करता है एव नरकसे भी दारुण यन्त्रणामयी। वह जब अपनी मर्यादा त्याग देता है, सृष्टिकी मर्यादा भङ्ग हो जाती है। अतिवृष्टि-अनावृष्टि, उपलवृष्टि, उल्कापात, भूकम्प, ज्वालामुखी—प्रकृति मर्यादा त्याग दे तो कब क्या होगा, कौन कह सकता है ; छुद्रकीटोंसे लेकर जलचर, नभचर, अरण्यानी पशु, सरीसृप प्रभृति सभी मर्यादा त्याग देते हैं। उनकी संख्या मर्यादामें नहीं रहती, स्वभाव मर्यादामें नहीं रहता। किसीकी अतिवृद्धि और किसीका समूलोच्छेद। अपनी मर्यादा त्यागकर मानव विश्वको अस्तव्यस्त कर देता है और तब उसकी आवश्यकता आखेटको उसका कर्तव्य बना देती है।'

'आखेटकी एक अन्य आवश्यकता है—एक अन्य आधार है, और हम उसी आधार पर आखेट करेंगे। यूथ-जीवी वन्यपशु जब वृद्ध हो जाता है, उसे उसके सहचर यूथसे पृथक् करदेते हैं। वह एकाकी रहनेको विवश होता है। सदा आतङ्कित रहता है अपने जीवनके लिए और ऐसी स्थितिमें क्रूर सत्व प्राणी आतङ्क बन जाते हैं। वे अकारण औरोंपर आक्रमण करने लगते हैं।'

'मृगका शृङ्ग भार बढ़ जाता है और वह तृण बड़ी कठिनाईसे चर पाता है। हिंसक पशुओंके नख-दन्त क्षीण हो जाते हैं। आजीविका प्राप्त करनेमें असहाय, यूथ त्यक्त ये वृद्ध प्राणी बड़े कष्टसे जीवन व्यतीत करते हैं और तब शासकको शाप देते हैं जो इन्हें इस कष्टसे आखेटके द्वारा मुक्त नहीं कर देता। ऐसे पशु आखेटके लिए विहित हैं। उनके पक्व चर्मादि तपोधनोंके उपयोगमें आते हैं और इससे भी वे प्रवित्र होते हैं।'

'हमसे कहीं प्रमाद न हो, इतनी सावधानी हमें रखनी होगी। हम अपने आखेट-निहत पशु नित्य ले आकर पितृ-चरणोंके सम्मुख रखेंगे एवं उनकी सम्मति प्राप्त करेंगे कि हमने कोई अनुचित आखेट तो नहीं किया।'

श्रीरघुनाथका यह उपदेश आखेटके प्रत्येक क्षणमें हमारे सम्मुख रहा। हमने क्रोध या आवेशमें एक भी वाण चलाया हो—मुझे स्मरण नहीं।

* * *

निषाद कुमार गुह हमारा मार्ग-दर्शन करते थे । अद्भुत निपुणता प्राप्त थी उनको वनके विषयमें । वे भूमि एवं तृण देखकर ही बता देते थे कि यहाँ किस कोटिके पशु मिल सकते हैं। वहाँ कोई पशु-यूथ होगा अथवा यूथ-बहिष्कृत एकाकी पशु । वायु सूँघकर ही वे पर्याप्त दूरके जलाशयका ठीक अनुमान कर लेते थे ।

यूथ-बद्ध मृग ही नहीं गज तक हमारा वनमें मनोरञ्जन करते थे। उनके आखेटकी बात ही कैसे सोची जा सकती है । मृगोंके यूथ हमारे अश्वोंके वनमें पहुँचते ही समीप आ खड़े होते—जैसे हमसे परिचय करनेको समुत्सुक हों ।

हम जहाँ विश्राम करने तरुछाया में बैठते, शशक हमारी गोदमें आ जाते थे। दूसरे अनेक छोटे वनपशु हमें घेर लेते और अपनी अनेक प्रकारकी चेष्टाओंसे हमें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करते ।

केशरी अपनी संगिनी एवं शिशुओंको लिये जब मार्गके पार्श्वमें आ खड़ा होता, जैसे स्वागतार्थ आया हो—उस पर कोई भी शराघात कैसे कर सकता है । गजोंका यूथ हमें फलों एवं पुष्पोंका उपहार दे जाता था तथा भल्लूकने कई बार श्रीरघुनाथके करोंमें स्वयं कन्द अर्पित किये ।

हम आखेट करते थे—प्रायः प्रतिदिन ही हम आखेट-योग्य पशु पा लेते थे। निषादकुमार गुह दुर्गम अरण्यमें जहाँ यूथ-त्यक्त, जराजीर्ण, स्वयंके लिये आतङ्क बने, क्लिश्यमान मृग, केशरी, व्याघ्र, वारहादि मिल सकते थे—वे स्थल ढूँढ़ निकालते थे।

प्रतिदिनके आखेट-हत हमारे पशु राजसेवक उठा लाते थे एवं हम उन्हें पितृ चरणोंके सम्मुख रख देते थे। हमें सदैव प्रशंसा प्राप्त हुई। किसी दिन किसीने नहीं कहा कि हमने आवेशमें कोई अतीर्थ-पशु अपना लक्ष्य बनाया ।

* * *

पूज्य पितृचरणने अब श्रीरघुनाथजीको प्रजा-पोषणमें योग देनेको प्रोत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया था । कहना तो यह चाहिए कि उन त्रिभुवन-पोषकने स्वयं अपना कार्य सम्हाल लिया और महाराजने उसमें प्रसन्नता प्रकट की।

श्रीचक्रवर्ती महाराजकी अनुमति लेकर श्रीरघुनाथ नगरके विविध कार्योंको देखने लगे। हम तीनों भाइयोंको भी अब आज्ञा-पालनका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

कहाँ नव-निर्माण आवश्यक है, कहाँके उद्यानको परिष्कृत करना है, किस चत्वर-सभा-स्थल एवं सरयूके घाट पर क्या परिवर्धन प्रजाके लिये अधिक सुख-सुविधा उत्पन्न करेगा—यह श्रीरघुनाथ अद्भुत ढङ्गसे सोच लेते थे। जो बात कुशल मन्त्रियोंके ध्यानमें नहीं आई थी—उसे वे सोच लेते और प्रत्येक कार्यके लिये चक्रवर्ती महाराजसे अनुमति प्राप्त करते।

बालोद्यान, नागरिक क्रीड़ोद्यान, चतुष्पथोपवन, पथ-पार्श्वचत्वर, सहस्रधारा स्तम्भ, स्नानीय घाट एवं आवास, सभा स्थल, सुविस्तृत क्रीड़ा भूमि आदि से सज्जित अवधपुरी तुमने देखी है सुभद्र! पृथ्वीका कोई नगर कदाचित नागरिक सुविधा एवं सुरम्यतामें—सात्विक सुरम्यतामें श्रीअवधकी तुलना कर सके। यह सब श्रीरघुनाथकी कौमार-कल्पनाका निर्माण है।

अवधके देवायतन, उपासना गृह, यज्ञ शालायें—कभी अवधमें इनकी अल्पता रही नहीं; किन्तु श्रीरघुनाथने जब इन सबको परिष्कृत कराया—इनको पुनः सुसज्ज किया गया, हमारे नागरिक ही नहीं, धर्माध्यक्ष तक चमत्कृत हो गये।

* * *

श्रीरघुनाथने नवीन समारोहोंका आयोजन किया तथा परम्परागत समारोहोंको अभिवृद्ध किया। उन्होंने प्रजाजनोंको समुल्लास प्राप्त हो, ऐसे एक भी सुअवसर छोड़े नहीं।

'अवधवासी कैसे सुखी एवं प्रसन्न हों, यह जैसे श्रीरघुनाथका मुख्य विन्दु था और वे इसके अवसर निकाल ही लेते थे।

हम नागरिकोंके निजी समारोहोंमें सम्मिलित होते थे। उनके विवाह, पुत्र-जन्म एवं दूसरे उत्सवोंमें वे श्रीरघुनाथको अपने गृह-सदस्यकी भाँति अपने प्राङ्गणमें पाते थे।

अनेकबार नगरमें एकसाथ अनेक गृहोंमें समारोह उपस्थित होते थे। हम तीनों भाइयोंको पृथक-पृथक गृहोंमें जाकर समारोहमें सम्मिलित होनेकी आज्ञा होती थी; किन्तु श्रीरघुनाथ सबके यहाँ पहुँचते थे। वैसे ऐसे अवसरों पर वे अधिक समय उस नागरिकको देते जो अपेक्षाकृत कम सम्पन्न एवं कम सम्मानित होता नगरमें।

सभी देवोत्सव पूरे उत्साहसे श्रीअवधमें मनाये जाते हैं; किन्तु श्रीरघुनाथके अनुरोध पर प्रायः उन सबमें श्रीचक्रवर्ती महाराज स्वयं उपस्थित होने लगे। पितृचरण पधारेंगे तो हम सब साथ रहेंगे ही।

मुनियों, विप्रवर्ग एवं अन्य अयोध्याके समीपस्थ वनोंमें रहने वाले तपस्वी—वानप्रस्थोंके आश्रमोंमें श्रीरघुनाथ एकबार प्रायः प्रतिदिन हो आते थे। उन आप्त-काम पुरुषोंको कोई आवश्यकता तो होती नहीं; किन्तु उनकी कुछ-न-कुछ सेवा हमें प्राप्त हो ही जाती थी।

यज्ञशाला एवं अतिथिशालाकी विशेष रूपसे व्यवस्थाकी गयी। ये सब कार्य श्रीरघुनाथ स्वयं देखते तथा आदेश देकर सम्पन्न कराते थे। वैसे उन्होंने हम तीनों भाइयों पर भी उत्तरदायित्व दे रखा था।

श्रीभरतजीको विप्रवर्ग, ऋषि आश्रम एवं देव सदनोंकी सुव्यवस्था श्रीरघुनाथने सौंप रखी थी। मेरे सहोदर अग्रजको नागरिकोंकी सुख-सुविधाका ध्यान रखना था एवं उनको कोई असुविधा तो नहीं होती—इस विषयमें सचेष्ट रहना था। मुझे अवधके सैनिकों तथा राजसदनके सेवकोंकी सेवा प्राप्त हुई थी। गौशाला स्वयं श्रीरघुनाथ देखते थे। अश्वशाला एवं गजशाला सेनासे सम्बन्धित होनेके कारण मुझे देखना था। इस प्रकार हमने नगर-परिचर्या बाल्यकालमें ही प्रारम्भ कर दी थी।

—०—

७—'मुनि-मख-राखन गयउ कृपाला'

हमारा दैनिक क्रम बड़े आनन्द एवं उत्साहसे चल रहा था। नित्य सायं सन्ध्याके पश्चात् श्रीरघुनाथ हम तीनों भाइयोंके साथ बैठते थे। उस समय वे दिन भरके कार्योंका विवरण सुनते थे। किन-किन अधूरे कार्योंमें अधिक गति आनी आवश्यक है, किसको अतिरिक्त सहायता चाहिये, प्रजाहितके कौन-कौनसे नवीन कार्य प्रारम्भ करने हैं, और कल किन-किन समारोहोंका आयोजन है, उनमें कितने राजकीय हैं तथा कितने नागरिकों के वैयक्तिक हैं, उन समारोहोंमें हम लोगोंको तथा अन्य राज पुरुषोंको किस प्रकार भाग लेना है, कितनी सहायता एवं सामग्री प्रदान करनी है, इस

प्रकार आगामी दिनका पूरा कार्यक्रम उसी समय बन जाता था। हममें से प्रत्येकका कार्य निश्चित हो जाता था।

ऐसी सायंकालीन मन्त्रणाओंमें आवश्यकता होनेपर महामन्त्री सुमन्त्रजी अथवा अन्य राजपुरुषभी बुला लेते थे हम लोग; किन्तु ऐसे अवसर कदाचित् ही आते थे।

मैं तो आदेश-पालन करना जानता हूँ। मन्त्रणामें श्रीरघुनाथके द्वारा पूछने पर श्री भरतलालजी एवं मेरे सहोदर अग्रजही अपनी अपनी सम्मति देते थे।

हमारी मन्त्रणामें जो निश्चय होता था, उसे श्री रघुनाथ पितृचरणोंमें निवेदन करते थे। मुझे स्मरण नहीं सुभद्र, कि श्रीचक्रवर्ती महाराजने हम लोगोंके मन्त्रणा निश्चयमें कभी कोई संशोधन किया हो। वे उल्लसित होते थे, प्रशंसा करते थे और हमें निश्चयको क्रियात्मक रूप देनेकी अनुमति प्राप्त हो जाती थी। प्राय: श्रीमहाराज उस निश्चयमें अधिक राजपुरुषोंकी सहायता लेने तथा अधिक व्यय करनेको प्रोत्साहित करते थे और श्रीरघुनाथ नम्रतापूर्वक उस अतिरिक्त सहायताको अनावश्यक सूचित कर देते थे।

* * *

सहसा एक दिन राज सभामें द्वारपालने सूचना दी—'ब्रह्मर्षि विश्वामित्र पधारे हैं।' तुम जानते हो सुभद्र, कि यह सूचना ब्रह्मर्षिकी कृपा एवं शील ही थी। अयोध्याकी राज सभामें ही नहीं, श्रीचक्रवर्ती महाराजके अन्त:पुरमें भी प्रवेशके लिये किसी तपस्वीको न अनुमति लेनेकी आवश्यकता है, न पूर्व सूचना देने की।

हमारा सौभाग्य—हमारे कुलगुरु उपस्थित थे राजसभामें। वे जगत्स्रष्टाके साक्षात् पुत्र महर्षि वशिष्ठ स्वयं आसनसे उठ खड़े हुए। उन्हें आगे करके विप्रवृन्द चला और उसके पीछे स्वयं चक्रवर्ती महाराज हम चारों भाइयों तथा प्रमुख सभासदोंके साथ चले महर्षि विश्वामित्रका स्वागत करने।

लोकोत्तर महत्पुरुषोंका शील भी लोकोत्तर होता है। महर्षि हमारे कुलगुरुके पदोंमें प्रणत होने जा रहे थे और कुलगुरुने उन्हें झुकनेसे पूर्व ही बल-पूर्वक हृदयसे लगा लिया। अद्भुत था विश्ववन्द्य दोनों महर्षियोंका वह मिलन।

हम सबको उन तपोमूर्ति सृष्टि-समर्थ महर्षिके पद-वन्दनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके अभयंकर हमारे मस्तक पर पड़े। उनके आशीर्वचनने हमें

धन्य किया और राज सभामें आकर जब उन्होंने सिंहासन स्वीकार कर लिया, श्रीचक्रवर्ती महाराजने अपने करोंसे उनके श्रीचरण प्रक्षालित किये। हमारी अलकें और अयोध्याके राजसदन परिपूत हो गये उस पादोदकसे ।

महर्षिने कृपापूर्वक पितृ चरणोंको अर्घ्य, पाद्यादि उपकरणोंसे अपनी अर्चा सम्पन्नकर लेनेका सुअवसर दिया । उनकी मार्ग-श्रान्ति निवृत्त हो जाने पर बद्धाञ्जलि श्रीचक्रवर्ती महाराजने पूछा—'सेवक सनाथ हुआ श्री चरणोंके आगमनसे । किसी विशेष सेवाका सौभाग्य देने श्री चरण पधारे हों तो उसे सम्पन्न करके यह जन अपनेको कृत कृत्य करे ।'

मैं तुम्हारे द्वार पर याचक होकर आया हूँ राजन् !' महर्षिने बिना आडम्बर कहा ।

'जिनके श्रीचरण त्रिभुवनकी समस्त कामना पूर्ण करनेमें समर्थ हैं, वे सेवकको यह बड़प्पन देने पधारे हैं ।' चक्रवर्ती महाराजका कण्ठ गद्गद् हो आया । अश्रुपूरित नेत्र उन्होंने प्रार्थनाकी—'अवधका सम्पूर्ण कोष, समस्त सैन्यबल एवं स्वयं यह जन श्रीचरणोंका ही है । प्राण देकर भी आज्ञाका पालन करेगा यह सेवक ।'

'तुम धन्य हो राजन् !' महर्षि भी पुलकित हो उठे—'मैं तुम्हारी श्रद्धासे सन्तुष्ट हूँ ; किन्तु विश्व हूँ । तुमने कुलगुरुके रूपमें जिन्हें प्राप्त किया है, उनके अकल्पनीय ब्रह्म तेजका पता नहीं तुम्हें कुछ अनुमान है या नहीं ; किन्तु मैं उससे परिचित हूँ । महर्षि वशिष्ठके वरद करोंकी छायामें रघुवंश नित्य निर्भय है । यही कारण है कि, त्रिभुवनजयी नैकषेय भी अयोध्याकी ओर आनेमें स्वयं आतङ्कित होते हैं !'

'राजन् ! तुम जानते ही हो कि रावणके आतङ्कसे सुरेन्द्र भी अमरावतीमें सुखशयन नहीं कर पाते !' दो क्षण रुककर महर्षिने पुनः प्रारम्भ किया—'उसने अपने अनुचरोंका जाल पूरे* अजनाभवर्षमें फैला रखा है ।

मेरे तपोवन 'सिद्धाश्रम' के पड़ोसमें ही उसके द्वारा नियुक्त असुर सेना रहती है । सुना है—उस राक्षस राजने इधरके वन्य प्रान्तकी शासिका बना रखा है राक्षसी ताड़काको । उस निशाचरीके दो पुत्र हैं मारीच एवं सुबाहु । दोनों ही मायावी हैं, क्रूर हैं तथा स्वभाव शत्रु हैं सत्कर्म, सद्धर्म, सुरमुनि गणोंके । उनके साथ विशाल राक्षस सेना है ।

*भारतवर्षका प्राचीनतम नाम ।

'सिद्धाश्रममें हम कोई यज्ञानुष्ठान नहीं कर पाते ।' महर्षिने खेदपूर्वक कहा—'पर्वों पर पार्वण कर्म भी करना अशक्य हो गया है'। हवन धूम्र दीखा और वे दुष्ट अपनी सेनाके साथ आये। अब तक आश्रम भूमिपर पद रखनेकी धृष्टता तो उन्होंने नहींकी है ; किन्तु गगनसे वे पूरे आश्रममें मल-मूत्र कर जाते हैं। हड्डी, रक्त, माँस, केशादिकी वृष्टि कर देते हैं । हमारे यज्ञ-कुण्ड, अग्नियाँ, आश्रम भूमि, वस्त्र पात्र एवं शरीर तक अपवित्र हो जाते हैं। पूरा दिन आश्रमको स्वच्छ-पवित्र करनेमें व्यतीत हो जाता है ।'

'स्थान-त्यागसे कोई लाभ नहीं। ये दुष्ट असुर जहाँ जायेंगे, वहीं सतावेंगे। इतना पवित्र स्थल, आवश्यक सामग्रीसे पूर्ण कानन कहाँ मिलेगा। कुश, समित्, फल-कन्द, जल सभी ऋतुओंमें वहाँ सुलभ हैं । दूसरे जो ऐसे स्थल हैं—वहाँ महर्षिगण निवास करते हैं । अपने साथके इतने ऋषियोंको लेकर मैं वहाँ निवास करने जाऊँ—उन्हें सङ्कोच भी होगा, असुविधा भी होगी। ये असुर कहीं वहाँ भी उत्पात करने लगे—अपने कारण दूसरोंको भी क्लेश होगा।'

महर्षिका विचार सर्वथा स्तुत्य था । मुझे तो क्रोध आ रहा था राक्षसों पर । महर्षिको निशाचरोंके उपद्रवसे आश्रम त्याग करना पड़े—यह हमारे लिए बड़ी लज्जाकी बात थी।

'राजन् ! आपके इन विश्ववन्द्य कुलगुरुने ही मुझसे शस्त्रन्यास कराया है और वह न्यास तो सर्वदाके लिए है।' महर्षि विश्वामित्र हमारे कुलगुरुकी ओर सस्मित देख रहे थे।

'ब्रह्मर्षियोंका बल सदासे तप रहा है ।' किञ्चित् स्मित पूर्वक हमारे कुलगुरु महर्षि वशिष्ठने कहा—'और उस तपमें आपकी समता कर सके, ऐसा मैं किसी को नहीं देखता।'

'राजन् ! अनेक बार क्रोध करके मैं अपने तपका नाश कर चुका हूँ।' महर्षि विश्वामित्रने पुनः वशिष्ठजीकी ओर देखा—'कृपणकी पूँजीके समान अब मैंने इसे बचाया है। शाप देकर इन राक्षसोंका संहार कर सकता हूँ, यह सत्य है ; किन्तु महर्षि वशिष्ठके समान मेरे पास अमित ब्रह्मतेज कहाँ है और मैं इन क्षमाकी मूर्तिके समान क्षमाशील ही कहाँ हूँ। इसीसे तो मैं आपके द्वार पर याचक होकर आया हूँ।'

'आज्ञा देव !' पितृचरणोंने बद्धाञ्जलि मस्तक झुकाया ।

'आप श्रीराम-लक्ष्मणको मुझे दे दें।' महर्षिके नेत्र प्रारम्भसे श्री-रघुनाथ पर ही लगे थे और वे बार-बार पुलकित हो रहे थे—'इनके द्वारा राक्षसोंका संहार हो जायगा एवं मुझे भी ये कृत कृत्य करेंगे।'

महर्षिके वचन वज्राघातके समान आये। पितृ चरण किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। समस्त राज सभा हतवाक् देखती रह गई। अप्रत्याशित याचना थी।

'राजन्! तुम मोहमें मत पड़ो। इन रामभद्रके अमित प्रभावको तुम नहीं जानते।' महर्षिने किसीको बोलनेका अवसर नहीं दिया—'किन्तु मुझपर तुम विश्वास कर सकते हो। तुम्हारे धर्मकी रक्षा होगी। लोक तुम्हारे औदार्यका यशोगान युग-युग तक करेंगे तथा तुम्हारे इन कुमारोंका परम कल्याण होगा।''

'भगवन्! आप राज्य माँगलें अयोध्याका, असुर-सेनके विनाशके लिए मुझे सम्पूर्ण सैन्यके साथ सङ्ग चलनेकी आज्ञा करें, अथवा इसी क्षण मेरा मस्तक माँगलें' पितृ चरण गद्-गद् कण्ठ विह्वल भावसे रुदन कर उठे—'सब दे सकता हूँ प्रभो! किन्तु जीवनके जीवन, प्राणोंके प्राण श्रीराम—उनको देनेमें हृदय निकला पड़ता है। ऐसी आज्ञा आप मुझे न दें।'

सुभद्र! इन महर्षियोंकी गति एवं इनका स्वभाव कदाचित सृष्टिकर्ता भी समझ नहीं सकते। इनकी चित्त नवनीत मृदुल है; किन्तु कब वज्र-निष्ठुर हो उठेगा, कोई कह नहीं सकता। पितृ चरण क्रन्दन कर रहे थे, चरणोंमें मस्तक रखे विह्वल हो रहे थे; किन्तु महर्षि ऐसे तटस्थ विराजमान थे, जैसे उनसे कोई बात नहीं कही जा रही है। उनसे करुण-प्रसङ्गका कोई सम्बन्ध ही नहीं।

सबसे प्रथम हमारे कुलगुरु पर महर्षि विश्वामित्रकी इस तटस्थताका प्रभाव पड़ा। उनके नेत्रोंमें आशङ्का स्पष्ट लक्षित हुई। उन्होंने ही विनम्र स्वरमें कहा—'ब्रह्मर्षि, मैं श्रीचक्रवर्ती महाराजसे कुछ कह लूँ?

महर्षि विश्वामित्रने केवल देखभर लिया। एक शब्द बोलनेकी आवश्यकता उन्हें प्रतीत नहीं हुई। सुभद्र! इतनी तेजस्विता त्रिभुवनमें कहीं सुनी तक नहीं हमने। अयोध्याके सम्राट्को संयमिनीपति यमराज बद्धाञ्जलि मस्तक झुकाते हैं। देवेन्द्र आगे आकर उनकी बन्दना करते हैं और हमारे कुलगुरु—उन ब्रह्मपुत्रकी तेजस्विता त्रिभुवन विख्यात है; किन्तु महर्षि विश्वामित्रकी तपः शक्तिका प्रभाव हमने उस दिन समझा! उनका तेज अदम्य है।

* * *

कुलगुरुके संकेत पर श्रीचक्रवर्ती महाराज राजसभाके मन्त्रणा कक्षमें चले गये। महामन्त्री सुमन्त्रके साथ हम चारों भाईयोंको वहाँ आ जानेकी अनुमति प्राप्त हो गयी।

महर्षि वशिष्ठने मन्त्रणा कक्षमें पहुँचते ही कहा—

'राजन्! त्रिभुवनमें विश्वामित्रकी तपस्याकी तुलना नहीं है। इसी प्रकार उनके क्रोधकी समता प्राप्त करना भी कठिन है और उनके समान अपने शब्दों पर स्थिर रहनेवाले भी सृष्टिमें गिने चुने ही हैं।'

'महर्षि विश्वामित्र कहते हैं कि राम-लक्ष्मणका कल्याण होगा' दो क्षण रुककर कुलगुरु बोले—ऐसी अवस्थामें दोनों कुमारोंको तनिक भी क्लेश दे सके, ऐसी शक्ति सृष्टिमें उत्पन्न नहीं है। महर्षि कौशिककी अवमानना करके रावण या रावणि तो क्या, महाकाल भी अपने कुशलकी आशा नहीं कर सकते।'

'महर्षि विश्वामित्र याचना करें—उसे पूर्ण कर ही देना चाहिए। वे अस्वीकार सुननेके अभ्यस्त नहीं राजन्!' इस बार महर्षि वशिष्ठ अत्यन्त गम्भीर हो गये—'वे नरेश थे और तब उन्होंने मेरी होमधेनु नन्दिनीकी याचनाकी थी। अस्वीकृति मेरी रह गयी; किन्तु मुझे अपने सभी पुत्रोंकी मृत्यु देखनी पड़ी। क्रोध आने पर विश्वामित्र कितना बड़ा विनाश उपस्थित कर देंगे—कोई नहीं कह सकता। अब वे ब्रह्म तेज सम्पन्न हैं। मैं भी अब उनका प्रतिकार करनेकी स्थितिमें नहीं।'

पितृचरणने कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु उनके नेत्रोंमें जो दयनीयता आई—सुभद्र, इतना दीन भाव अयोध्याके अधीश्वरके मुख पर कदाचित् जीवनमें प्रथम बार आया होगा। हृदय फटा जाता था पितृचरणकी वह अवस्था देखकर।

'श्रीरामभद्रके वियोगकी कल्पना मुझे कम व्यथित नहीं करती राजन्!' महर्षिने इस बार गद्गद् कण्ठ कहा—"किन्तु एक ओर सर्वस्व जानेकी आशङ्का है। कुमारोंके भी ब्रह्मर्षिके कोपभाजन बननेका भय उपस्थित है और दूसरी ओर कोई आशङ्का नहीं है। विश्वामित्र जैसे तपोधनका आश्वासन है। अतः विश्वामित्रके क्रोधानलको उद्दीप्त करनेकी अपेक्षा मेरी सम्मति है उनकी आज्ञा स्वीकार कर लेना चाहिए।

"आपकी आज्ञा…… …" पितृ चरणोंसे बोला नहीं गया ; किन्तु सुभद्र ! रघुकुलने अपने कुलगुरुका आदेश किसी भी दशामें अस्वीकार नहीं किया है ।

"वत्स रामभद्र ! तुम माताओंकी आज्ञा प्राप्त करो ।" वहीं श्री चक्रवर्ती महाराजने भरे स्वरसे आज्ञा दे दी और श्रीरघुनाथ मेरे सहोदर अग्रजके साथ अन्तःपुरमें चले गये ।

❀ ❋ ❀

सुभद्र ! उस व्यथाका वर्णन करना शक्य नहीं है । माताओंने अनुमति प्रदानकी—कैसे प्रदानकी, यह पूछो मत । महर्षि विश्वामित्रके कोपका भय विवश कर रहा था सबको । सबके हृदय विदीर्ण हुए जा रहे थे ।

"नाथ, अब आप ही इनके माता-पिता हैं ।" श्रीरघुनाथके लौट आने पर पितृ चरणोंने उन्हें भाईके साथ महर्षिको सौंपते हुए अत्यन्त आर्तभावसे प्रार्थनाकी—ये अबोध बालक हैं ! इनकी चञ्चलता, इनके प्रमाद, इनके अपराध आप क्षमा करते रहेंगे ।"

'राजन् ! आप किसी प्रकारकी आशङ्का न करें ।" इस सारे शोकार्त समाजमें महर्षि विश्वामित्र स्वस्थ-स्वरमें कह रहे थे—"राजकुमारोंका किसी भी प्रकारका कोई अनिष्ट नहीं होगा । इनका मङ्गल होगा ।"

श्रीरघुनाथने सानुज कुलगुरुके चरणोंमें मस्तक रखा, पितृ पदोंमें प्रणत हुए, गुरुजनोंकी बन्दनाकी और हम दोनों भाईयोंको अङ्कमाल दी ।

महर्षि विश्वामित्र एवं हमारे कुलगुरु परस्पर मिले । पूज्य पितृ चरणने तथा अन्य लोगोंने महर्षिके पदोंमें प्रणिपात किया । एक बार पुनः आश्वासन देकर महर्षिने प्रस्थान किया । श्रीरघुनाथ तथा मेरे अग्रज महर्षि के पीछे गये । अयोध्यामें हम दो भाई ऐसे रह गये, जैसे प्राणहीन शरीर ।

—×—

८–मिथिलाका आमन्त्रण

'तात, पितृ चरण मेरी अनुपस्थितिमें खिन्न न हों—यह विशेष कर्तव्य अब तुम्हारे ऊपर आ गया है।' चलते-चलते श्रीरघुनाथने श्रीभरतलालको यह सन्देश दिया था।

श्रीभरतलालजीने मुझसे कहा—'कुमार, हममें अपने अग्रजके समान प्रतिभा, दक्षता, औदार्य, प्रजावत्सलता आदि कोई गुण नहीं है; किन्तु उनके श्रीचरणोंकी अनुकम्पा हमारे साथ है। उनकी प्राणप्रिय प्रजा उनके अभावका अनुभव करके किसी लौकिक असुविधासे पीड़ित न हो, यही हमारी आराधना है।'

हम भाईयोंका यह निश्चय कार्यमें नहीं आ सका। श्रीरघुनाथके विदा होते ही पितृ चरणोंमें अद्भुत परिवर्तन हो गया। उन्होंने हम दोनों भाईयोंको अपने अङ्कमें बैठा लिया और हमारी अलकें उनके अश्रुजलसे आर्द्र हो गयीं।

'मेरे कुसुम सुकुमार बालक' पितृ चरण विह्वल हो रहे थे—'अपनी इस अल्पवयमें ही ये श्रान्त हुए जाते हैं प्रजा-प्रबन्धका मेरा कार्य लेकर। कौनसा सुख दिया मैंने इन बच्चोंको। अयोध्यामें रहकर ही कौनसा विश्राम पाते थे मेरे राम-लक्ष्मण। मेरे जीवित रहते ही खेलने-उन्मुक्त विनोद करनेका अवसर नहीं मिला उन्हें।'

'तुम दोनों अब इस प्रपञ्चमें मत पड़ो।' अब हम दोनों भाईयोंको पितृ चरण कोई प्रजा-सेवा या अपनी सेवाका कार्य करनेकी अनुमति देते ही नहीं थे—'सखाओंके साथ खेलो! अश्वक्रीड़ा, आखेट, जलक्रीड़ा अथवा अन्य जो विनोद तुम्हें प्रिय लगे। मेरे जीवित रहते तुम दोनों तो पिताका सुख प्राप्त कर लो। अभी तो क्रीड़ा-विनोदकी तुम्हारी अवस्था है।'

'हमें सचमुच अपना समय सखाओंके साथ क्रीड़ामें व्यतीत करना चाहिये।' श्री भरतलालजीने पितृ चरणोंके चित्तकी स्थितिका शीघ्र अनुमान कर लिया—'यदि हम भरपूर प्रसन्न नहीं दीखेंगे, यदि हम गम्भीर बनेंगे या प्रजा-पालनमें योग देनेका अधिक आग्रह करेंगे तो पितृ चरणोंको श्री रघुनाथकी स्मृति अत्यधिक आवेगी, और वे अधिक खिन्न होंगे।'

जन्म गम्भीर, चिन्तनशील मेरे वे पूज्य अग्रज—कितने महान हैं वे, उन्होंने अपनेको सर्वथा परिवर्तित कर लिया। वे क्रीड़ा प्रिय बन गये। अब वे बार-बार पितृ चरणोंको अपनी चञ्चलता तथा विनोदसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा किया करते थे।

जिसके स्वभावमें चापल्य नहीं, खेल-कूदमें जिसका शैशवमें भी अत्यन्त अनाकर्षण रहा—वह अपनेको चपल बना ले, क्रीड़ा प्रिय बनाले—सुभद्र ! यही आदर्श था, जिसे अवलम्बन करके श्रीरघुनाथके वनवासके चतुर्दश वर्ष मैंने व्यतीत कर पाये।

* * *

श्री चक्रवर्ती महाराजमें भी अद्भुत परिवर्तन हो गया था। श्रीरघुनाथ जिस प्रजाको प्राणाधिक मानते थे—उस प्रजाकी शुश्रूषामें अब पितृ चरण अपनेको खपा देना चाहते थे।

हम चारों भाई बालक थे। किसीके भी गृहमें हमारा पहुँच जाना कोई विशेष वात नहीं थी ; किन्तु अब तो अयोध्या नाथ स्वयं प्रजाके गृहोंमें चाहे जब उपस्थित हो जाते थे। किसीके घर साधारण समारोह भी हो तो चक्रवर्ती महाराज उपस्थित। जो प्रजाके कार्य अमात्यादि कर दिया करते थे, उन्हें अब स्वयं महाराजने प्रारम्भ कर दिया।

अयोध्याका सिंहासन देहाभिमानी, स्वार्थ पर, प्रजोपेक्षकोंसे कभी अपवित्र नहीं हुआ। अवधका सिंहासन प्रजाके शासक ही नहीं, प्रेममय पिताके विराजमान होनेका स्थान रहा है ; किन्तु श्री चक्रवर्ती महाराजने तो अब अपनी तत्परता, औदार्य एवं श्रमशीलतामें समस्त उत्तमोत्तम परम्पराओंको अतिक्रम कर लिया था।

यह सब था सुभद्र—सब समारोह, सब कार्य-कलाप जैसेका वैसा ही था ; किन्तु जैसे सब निष्प्राण ! वही पितृ चरण ; वही राजसदन, वही मातायें वही मुनि मण्डल और वे ही नगरनिवासी – सब वही। उलटे अवधमें समारोह बढ़ा दिये थे श्री चक्रवर्ती महाराजने। नगर एवं गृह सज्जामें कहीं कोई त्रुटि नहीं आई थी, किन्तु आन्तरिकआह्लाद जैसे विदा हो गया था। अन्तः सार शून्य क्रियायें केवल क्रियायें बनकर रह गयी थीं। मानों सब किसी निष्ठुर निर्यतिका एक विशाल व्यङ्ग हों—शुष्क हृदय मानवके कृतिम हास्यके समान।

अयोध्याके आह्लाद श्रीरघुनाथ वहाँ नहीं—हम सबको ही नहीं, अवधके वृक्ष, पथ, भवन, सरिता, आदि जड़ पदार्थोंको भी जैसे प्रतिपल यह अभाव ओज एवं उल्लास रहित बनाये देता था।

पशु-पक्षी मनुष्य तो नहीं कि अपनी व्यथा बनाये रहेंगे। गौयें क्रंदन कर उठती थीं। वृषभ हमें सूँघकर हुँकार करते थे, मानों पूछते हों—'तुम्हारे वे उदार अग्रज कहाँ हैं? अश्वोंकी हिनहिनाहटमें स्पष्ट रुदन आ बैठा था।

'श्रीराम! श्री रामभद्र! कहाँ हैं आप?' सारिकाका यह स्वर जब गूँजता, मातायें मस्तक पकड़कर बैठ जातीं।

'श्रीराम आखेट करने गये हैं।' शुष्क उत्तर देता था।

सचमुच वे आराध्य असुरोंका आखेट करने ही तो गये थे।

* * *

'तात! मेरी दक्षिण बाहु एवं मनमें स्फुरण हो रहा है।' उस दिन प्रातःकाल ही अपने भाईसे मैंने निवेदन किया।

'ये शुभ शकुन मुझे भी हो रहे हैं कुमार!' श्रीभरतलालजीने कहा—हृदय अपने आप उल्लसित हो रहा है। अवश्य हम आज अपने आराध्य अग्रजका सम्वाद पावेंगे।'

हम दोनों भाई उल्लसित-भावसे माताओंकी वन्दना करने पहुँचे तो माता कैकेयीके प्रांगणमें मणिभित्तके ऊपर बैठा काक उच्च स्वरसे 'काँव-काँव' किये जा रहा था। माता उससे कह रही थीं—मेरा राम-लक्ष्मणके साथ आ रहा है? वह आज आ जाय तो तुझे जीवन भर यहाँ भरपेट दूध-भात दिलवाऊँगी।'

हमें देखकर माता उल्लाससे बोलीं—भरत! देख यह काक कुछ कहता है। तेरा बड़ा भाई कदाचित् आनेवाला है।

'मुझे भी ऐसा लगता है कि आज कमसे कम श्री रघुनाथका सम्वाद हमें अवश्य मिलेगा।' पद-वन्दना करते हुए भी भरतजीने निवेदन किया।

'तेरी वाणी सत्य हो' माताने आशीर्वाद देकर कहा—मेरे रामको बहुत दिन हो गये अयोध्यासे गये। उसका कुशल-सम्वाद ही मिल जाय तो प्राण शीतल हों।'

उस दिन अयोध्यामें सर्वत्र शुभ-शकुन हो रहे थे। सभीके चित्त अकस्मात उल्लसित हो उठे थे। हम राज सदनसे निकले तो स्वर्ण वर्णा धेनु अपने बछड़ेको दुग्धपान कराती सम्मुख ही मिली थी।

* * *

हम दोनों भाई सखाओंके साथ अश्व क्रीड़ा करने चले गये थे। हमने प्रातः कृत्य—सन्ध्या वन्दनादि करके प्रातराश कर लिया था और श्री चक्रवर्ती महाराजने हमें आज्ञा दे दी थी मित्रोंके साथ क्रीड़ा करनेकी। मध्याह्न नहीं हुआ था—सहसा एक मित्र अश्व दौड़ाता आया और उसने कहा—'राजकुमार! सुना है, महाराजाधिराजके समीप कहींसे कोई चर आया है श्री रघुनाथका सम्वाद लेकर—कोई पत्र लाया है वह।'

'श्रीरघुनाथका पत्र आया है?' हमारी क्रीड़ा तत्काल समाप्त होगई। पूरे मित्र मण्डलके अश्वोंने उस सम्वाद देने वालेके अश्वको घेर लिया—"कहाँसे पत्र आया है? कहाँ हैं श्री रघुनाथ? वे श्री लक्ष्मणलालके साथ सकुशल तो हैं?' एक साथ प्रायः सबने पूछा।

'मुझे कोई विवरण नहीं मिला।' उसने कहा—'कोई चर पत्र लेकर अपने सम्राट्के पास आया है, इतना मैंने सुना है। इसलिये अश्व दौड़ाता राजकुमारोंके समीप आया हूँ कि इनके माध्यमसे हमें भी सब समाचार ज्ञात हो जायँगे।

बिना एक शब्द बोले श्री भरतलाल जीने अश्व राजसभाकी ओर छोड़ दिया पूरे वेगमें। मेरा अश्व उनके पीछे लगा चला गया अपने स्वभावानुसार। राजसभाके बहिर्द्वार पर जब हम अश्वोंसे उतरे—हमारे सभी मित्र अपने अश्वोंसे कूद पड़े।

हम सीधे चले गये और पितृ चरणोंमें मस्तक झुकाकर राजसिंहासनके पार्श्वमें ही बैठ गये।

'तात, कहाँसे पत्र आया है?' श्री भरतलालजीने ही पूछा—'हमारे प्राणाधिक प्रिय दोनों भाई किस देशमें हैं? वे सकुशल तो हैं? क्या समाचार हैं उनका?

'मिथिला नरेशका पत्र लेकर उनके चर आये हैं लाल!' श्रीचक्रवर्ती महाराज हर्ष विह्वल हो रहे थे—'महर्षि कौशिककी अपार अनुकम्पा है श्री राम-लक्ष्मण पर।'

स्वयं महाराजने वह पत्र पढ़कर हमें सुनाया, और वह पत्र—सुभद्र ! श्री रघुनाथ त्रिभुवननाथ हैं, रघुकुल भूषण हैं, किन्तु निखिल भू-मण्डलके शूर मानियोंके मध्य उन्होंनेजो अकल्पित गौरव प्राप्त किया था, मिथिलाकी स्वयंवर सभामें जो अयोध्याके शौर्यकी विजय वैजयन्ती फहराई थी—हर्ष, उल्लास, आनन्दातिरेकके मारे हमारे कण्ठसे स्वर ही कई क्षण नहीं निकल सका।

'तात !' श्री भरत जी ने मिथिलाके चरोंकी ओर सस्नेह देखा और उनके कर अपने दुष्प्राप्य रत्नहारको निकालने उठे।

चरोंने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया था, किन्तु पितृ चरणने सस्नेह हमें रोका—वत्स ! ये कहते हैं कि हम दाता हैं। गृहीता बननेको हम उद्यत नहीं। इनको गृहीता बनकर अयोध्या गौरवान्वितही हुई है।

जैसे चारों ओर आह्लादका अपार वारिधि उमड़ रहा था और हम सब उसमें उन्मज्जित—निमज्जित हो रहे थे। सुभद्र, उस समय कोई साधारण बातभी कहता था तो उसमें असाधारण कवित्व प्रतीत होता था। सम्पूर्ण वातावरण रसमय हो उठा था। जीवन सरस काव्य बन गया था।

'यद्यपि कविताकी अपने उस समय तक झाँकीभी नहीं पायी थी।' देवी श्रुतिकीर्तिने तनिक स्मित पूर्वक अपने आराध्यकी ओर देखा।

'हमें यह भी पता नहीं था कि कविता देवी मिथिलामें हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं।' शत्रुघ्न कुमारके वदन पर भी आजकी इस खिन्नतामें प्रथम बार तनिक प्रसन्नताकी झलक दृष्टि पड़ी।

सुभद्रने मस्तक झुका लिया था। ये दम्पति उसके आराध्य हैं। उसके जननी-जनकके समान हैं। इनके परस्पर विनोदमें वह अपने को ऐसे तटस्थ किये बैठा रहा, जैसे उसने कुछ सुनाही न हो।

'तात !' शत्रुघ्नकुमार पुनः मूल प्रसङ्ग पर आगये। पितृ चरणने हमें सम्बोधित किया—'श्री मिथिला नरेशने हमें आमन्त्रित किया है। रामभद्रकी बारात सज्जित करनी है और बारातकी शोभातो युवक ही हैं। तुम अपने समस्त मित्रोंको मेंरी ओरसे आमन्त्रित करो। उन सबके लिये राजकीय अश्वशालासे श्याम कर्ण अश्व सज्जित करा लो तथा उनकी सुविधाकी समस्त व्यवस्था करो। कुलगुरु महर्षिने आज्ञा दी है कि कल प्रातः बारात प्रस्थान करेगी।'

हम दोनों भाइयोंने अनुमति ली और राजसभासे उठे। मित्रोंका पूरा समुदाय हमारे पीछे ही राज सभासे आगया था। समस्त सखा एक साथ उठे। राज सभासे बाहर हम दोनोंको उन्होंने घेर लिया।

श्रीरघुनाथ सबके अपने हैं। उनके विवाहका निमन्त्रण हम दें—इसकी अपेक्षा कहाँ किसे थी। सबको लेकर हम दोनों अश्वशालामें आये और दो घड़ी भी नहीं लगी—सम्पूर्ण मित्रोंने अपने अपने उपयुक्त अश्व चुन लिये—सबके सब श्याम कर्ण अश्व। अब सबको पृथक होना था; क्यों कि सबको आज ही बारातमें प्रयाणकी प्रस्तुति करनी थी। अपने अपने अश्वोंको सजाना था।

* * *

हम दोनों भाई पूरे दिन व्यस्त रहे—रात्रिके भी प्रथम प्रहर तक। माताओंने अनेक प्रकारकी शिक्षायें दीं मिथिलामें व्यवहार करनेके सम्बन्धमें और श्री रघुनाथ तथा लक्ष्मण लाल जी के लिये भी कुछ सन्देश दिये।

हमारे लिये कब क्या आवश्यक होगा—यह सब माता सुमित्रा साथ जानेवाले सेवकोंको समझाती रहीं। उन्होंने अपनी देख रेखमें ही मिथिला जाने वाली प्रायः सब सामग्री सज्जित करायी।

बारातके साथ कितने सेवक जायँगे, कौन कौन रुकेंगे और कौन जायँगे—यह सब व्यवस्था माता सुमित्राको ही करनी थी। सहस्रशः सेवक जाने थे, किन्तु उन्होंने यह निर्णयतो अपराह्नसे पूर्वही कर दिया था। सेवकोंको स्वयं सज्जित होनेके लिये पर्याप्त समय मिला था।

* * *

अयोध्यासे बारातने दिनके प्रथम प्रहरमें प्रातः कृत्य सम्पन्न करके प्रस्थान किया। महर्षि वशिष्ठका स्यन्दन सबसे आगे था। वह माणिक मण्डित प्रज्वलित अग्निके समान तेजोमय रथ—सुभद्र, हमारे कुलगुरु जहाँ हमारे आगे हों—समस्त सुमङ्गल बद्धाञ्जलि प्रस्तुत मिलेंगे ही।

कुलगुरुके साथ विप्रवृन्द-मुनि मण्डल चल रहा था अपने स्यन्दनोंमें और उनके पीछे श्रीचक्रवर्ती महाराजका हीरकपुञ्ज मण्डित, शशिकिरण समुज्वल राज रथ था। राज रथके साथ शतशः रथ चल रहे थे सामन्त, अमात्य, एवं वृद्ध सम्मान्य जनोंके।

हमारा युवक समुदाय अश्वों पर आरूढ़ था। सब अश्व—रथोंके भी अश्व श्याम कर्ण थे और आजकी उनकी सज्जा…… ……।

हमारे समूहके पीछे मदच्युत् ऐरावत कुलोत्पन्न गजेन्द्रोंके आरोही आ रहे थे और उनके पीछे…… किन्तु बारातका वर्णन अशक्य है। वाद्योंके कोलाहलमें कोई शब्द सुनाई नहीं पड़ता था और जब हमने प्रस्थान किया—गगनसे अजस्र पुष्प वृष्टि हो रही थी।

———

९—जनकपुर

'जेहि तेरहुति तेहि समय निहारी ।
तेहि लघु लगहिं भुवन दसचारी ।।'

सुभद्र, बारात मिथिला पहुँची। जनकपुरकी शोभा, महाराज जनकका भव्य स्वागत—वह स्वागत तो मार्गमें ही हमें प्राप्त होने लगा था ; किन्तु विदेह—नगरकी शोभा तो हमने पीछे देखी। मैं समझता हूँ, मेरे जैसी ही अवस्था अयोध्याके जन-जनकी थी। हम कोई शोभा देख नहीं पा रहे थे। हमारे नेत्र अनुजके साथ श्रीरघुनाथको सर्वत्र ढूँढ़नेमें लगे थे। हमारे श्रवण—हमारी समस्त इन्द्रियाँ और मन आकुल थे अपने महान अग्रजके लिये।

महाराज जनकने भव्य अगवानीकी। पूरी बारात नगरमें आयी। लोक एवं शास्त्रकी सभी विधियाँ सम्पन्न हुई। हमें अर्घ्य, पाद्यादि तथा मधुपर्क प्राप्त हुआ। हम सबने कहीं कोई भूल नहीं की। सब प्रथाओंका समुचित सम्मान हुआ ; किन्तु हुआ यन्त्रचालितके समान। कैसे हमने वह सब किया—हम स्वयं नहीं जानते।

शिष्टता भी बड़ी उत्पीड़क होती है सुभद्र ! जिनके दर्शनोंके लिये प्राण आकुल हो रहे थे, उनके सम्बन्धमें श्रीचक्रवर्ती महाराजने भी किसीसे नहीं पूछा—'श्रीराम-लक्ष्मण कहाँ हैं ?' पूछना उतावली होती और शिष्टता नहीं मानी जाती।

हमें अत्यन्त भव्य जनवासा प्राप्त हुआ। जब हम सब वहाँ यथा स्थान व्यवस्थित हो गये, मार्ग श्रम शान्त हो जाय—इतना काल व्यतीत हो गया—सच तो यह है कि मार्ग श्रम हुआ ही नहीं था ; किन्तु श्रम-शान्त करनेका वह काल—वह अल्पकाल तो युगदीर्घ हो गया और सबको अशान्त किये रहा वह। उस प्रतीक्षा (अभीप्सा कहना चाहिये) के पश्चात् किसी ने कहा—'श्रीराम-लक्ष्मणको साथ लिये महर्षि विश्वामित्र आ रहे हैं।'

श्रीरघुनाथ उत्कट प्रतीक्षा—तीव्रतम अभीप्सा जागृत हुए बिना किसीको कभी कहाँ मिलते हैं ; किन्तु हमारी अभीप्साके धन्य होनेका क्षण आगया था। किसने दिया था यह सम्वाद—स्मरण नहीं। स्मरण रखनेका

अवकाश भी कहाँ था। स्वयं चक्रवर्ती महाराज अस्त-व्यस्त उठ खड़े हुए और चल पड़े। आनन्द विह्वल उनके चरण डगमग पड़ने लगे थे।

हमने दर्शन किया और अपलक देखते रहे वह निखिल सौन्दर्यघन श्रीमुख। हमें अभी कुछ क्षण प्रतीक्षा करना था; किन्तु ये क्षण हमें भारी नहीं प्रतीत हुये। श्रीचक्रवर्ती महाराजने महर्षिके चरणोंमें प्रणिपात किया और धो दिया अश्रुजलसे उन पावन चरणोंको। महर्षिने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया।

महर्षि अब हमारे कुलगुरुसे मिलने बढ़े। सानुज श्रीरघुनाथने पितृ-चरणोंकी वन्दनाकी और पितृचरणोंने तो जैसे प्राण प्राप्त किया था। उन्होंने एक साथ सानुज रघुनाथजीको हृदयसे लगा लिया। दोनों भाइयोंकी अलकें आर्द्र हो गयीं पिताश्रीके स्नेह पूर्ण नयन सलिलसे।

कुलगुरुके श्रीचरणोंका वन्दन करके श्रीरघुनाथजीने जब विप्रवृन्द, मुनिगण तथा गुरुजनोंको अभिवादन कर लिया, हमें सुअवसर प्राप्त हुआ। कैसे कहूँ सुभद्र—कैसा मिलन था वह। वाणीमें शक्ति नहीं है। अपना ही प्राण देहसे बाहर शरीरधारी होकर आ जाय और देहको अङ्कमाल देकर उससे मिलनेका अवसर प्राप्त हो.......।

हृदय आतुर था उन पद्मारुण पाद पद्मोंमें लिपट जानेको और श्रीरघुनाथके विशाल बाहु शरीरको हृदयसे लगाये थे—लगाये ही रहे दीर्घकाल तक।

'कुमार, प्रसन्न हो तुम ?' श्रीरघुनाथका स्नेह भरा प्रश्न—मेरा कण्ठ उत्तर देनेमें असमर्थ था; किन्तु उन मुनिमन मानस हंसको शब्दोंसे उत्तर कब अपेक्षित रहा है। वे निखिल हृदय ज्योति—हृदयकी भाषा ही तो वे सुनते समझते हैं। यहाँ हृदय कह रहा था—'देव, श्रीचरणोंके दर्शन हो गये, अब हमारी प्रसन्नताकी कहीं सीमा है। प्रसन्नता—आह्लादका निर्झर तो इन पाद पद्मोंसे ही प्रकट होता है।'

पद-वन्दन करते मेरे सहोदर अग्रजने भी मुझे बलपूर्वक उठाकर हृदयसे लगा लिया था।

* * *

अब हमारी बारात—ठीक बारात हो गयी थी। हम अयोध्यासे चाहे जितनी सज्जा करके चले हों—वह बारात कहाँ थी। 'वर' के बिना बारात

तो केवल मनुष्योंका समूह है। 'वर' तो अब आया था और सुभद्र ! एक-मात्र वही 'वर' है। उससे अधिक श्रेष्ठ तो त्रिभुवनने कभी सुना नहीं।

अयोध्याकी बारात अब बारात हो गयी थी। उसमें अपूर्व उल्लास-क्षण, क्षण नवीन आह्लाद व्यक्त हो रहा था। जो एकमात्र रसरूप है, वह हमारे मध्यमें था। अब जनकपुरकी शोभा, वहाँको साज-सज्जा, वहाँके स्वागत-सत्कार, शील-सौन्दर्य एवं हास्य विनोदको देखने तथा उसका भरपूर आस्वादन करनेकी स्थितिमें हम आगये थे।

अयोध्या त्रिभुवनकी शोभा है। अवधकी शोभा एवं वैभवकी समता न अमरावती कर सकी और न लोकपालोंकी कोई अन्य पुरी; किन्तु उस समयकी जनकपुरकी शोभा—चतुर्दश भुवनका वैभव एवं शोभा उसके सम्मुख सदा तुच्छ है।

मिथिलाके कलाकारोंका कौशल स्रष्टाका प्रतिनिधित्व कर सकता है सुभद्र ! स्वर्ण, मणि एवं रत्नोंको लेकर उन्होंने जो निर्माण किये थे—स्वयं सृष्टिकर्त्ता भ्रममें पड़ जायँ, ऐसा था वह अद्‌भुत निर्माण।

पद्मराग मणि है; किन्तु सचमुच पद्मरागके पद्म बना दिये थे महाराज जनकके कलाकारोंने और उस पद्ममें पुष्परागके पराग, केशर, हरिन्मणिके पत्र—वे ज्योतिर्मय निर्मल सरोज, वास्तविक सरोज उतने शोभा सम्पन्न कहाँ हो पाते हैं।

सफल कदली स्तम्भ, पुष्प गुच्छ भूषित लतायें, फल भार नमित आम्र तरु—उन पर गुंजार करते भ्रमर, कूजते पक्षी, नृत्य करते मयूर—और यह सब स्वर्ण, रत्न, मणिका निर्माण था जनकपुर में।

चतुष्पथों एवं मार्गों पर बने तोरण एवं वितानोंका निर्माण—वास्तविकता स्वयं श्री हीन एवं झूठी हो उठी थी। पक्षी भ्रमित हो होकर उन रत्न पक्षियोंके समीप आ बैठते थे। राजपथ पर हीरक एवं अन्य मणियोंके योगसे निर्मित सवत्सा गौके समीप सचमुच गौ आकर खड़ी हो गयी।

जनकपुरकी अति मानव कलाने जहाँ हमें अत्यधिक प्रभावित किया, वहाँके स्वागत सत्कार तथा शीलने कम प्रभावित नहीं किया। प्रत्येक नगरजन ऐसे मिलते थे—जैसे हम उनके निजी अतिथि हों। हम जिधरसे निकलें—पथ पुष्प वर्षा से भर उठे। लाजा, अक्षत, दूर्वादलादि की वृष्टि होती रही।

अयोध्यासे जनकपुर तकका मार्ग गगनकी पुष्प वृष्टिसे आच्छादित मिला था हमें। जैसे अयोध्यासे ही हमें पुष्प-पाँवड़े देने सुरोंने प्रारम्भ कर दिया था और जनकपुरमें तो पथों पर सुमनोंके स्तर लगते जाते थे। बहु-मूल्य पदास्तरण मिथिला नरेशने पथोंमें बिछवाये थे, किन्तु उनका भव्य वर्ण देखनेका अवसर हमें कभी प्राप्त नहीं हुआ। हमारे अश्वों एवं गजोंको सुमनास्तरण पर होकर ही सर्वत्र गमन करना था।

मिथिलाके सौन्दर्यकी चर्चा आज उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। वैसे जहाँ हमारी दृष्टि जाती थी—लगता था—अमरावतीका सम्पूर्ण सौन्दर्य विदेह नगरमें ही अवतरित हो गया है।

सुभद्र ! तुम जानते हो कि रघुवंशियोंकी दृष्टि अविकृत रहकर ही सौन्दर्यका सम्मान करती है, किन्तु जिस जनकपुरमें हमारी दृष्टियोंकी भी श्रृङ्खलायें उपस्थित थीं ......। कमलिनियोंसे मिथिलाकी पुष्करिणियाँ ही नहीं—सौधाट्टालिकायें भी परिपूर्ण दृष्टि पड़ीं हमें।

देवी श्रुतिकीर्तिके मुख पर अरुणिमा झलकी और उन्होंने बंकिम दृगोंसे देखा। कुमारके अधरों पर भी स्मितकी रेखा आ गयी।

* * *

हम श्रीरघुनाथके अनुज थे। धनुर्भङ्गके पश्चात् भगवती भूमिजाने जब जयमाल डाल दी अपने नित्य सहचरके कण्ठमें—मिथिला उसी क्षण श्रीरघुनाथकी ससुराल हो गयी। हमारे साथ जो पद-पद पर हास-विनोद चलता था, वह समुचित तो था ही, अपार उल्लास था उसमें।

हमने पुरनारियोंकी अभिलाषा सुनी—जब हम राजपथसे निकलते थे—प्रायः अट्टालिकाओंसे साभिलाष स्वर सुनाई पड़ते थे—'चारों अवध राजकुमारोंका विवाह यहीं होता.......।'

हमने सुना था कि महाराज सीरध्वज जनकजीकी एक औरस पुत्री भी हैं, जो भगवती धरानन्दिनी की अनुजा होती हैं तथा महाराजके छोटे भाईके भी दो कन्यायें हैं, यह हमने सुन लिया था। विवाहके दिन द्वार पूजाके समय मुझे अपनी तीनों भाभियोंके दर्शन हुए और उनकी सबसे छोटी बहिनकी दृष्टिसे जब दृष्टि मिली.......।

'आज आपको हो क्या गया है ?' सलज्ज भावसे देवी श्रुतिकीर्तिने बाधा दी—'अब क्या वह चर्चा करने योग्य वय रही है हमारी।'

'जीवन सुना रहा हूँ अपना और उसमें जिन क्षणोंने सर्वाधिक रस-प्लावन किया—उनका स्मरण भी न करूँ—उन क्षणोंके प्रति कृतघ्नता

नहीं होगी' कुमारने सस्मित कहा और आगे कहते गये—हमें कोई पहिचान नहीं थी। केवल श्री भूमि कुमार को हम वैवाहिक मङ्गल साजसे पहिचान सकते थे और उन वन्दनीयाके पल्लावरुण पाद पद्मोंमें उसी क्षणसे मैंने मन ही मन प्रणाम करना स्वतः सीख लिया।'

देवी माण्डवीके चरणों पर ही मेरी दृष्टि गयी थी और मेरे मनने कहा था 'इन चरणों की भी तुम्हें वन्दना करनी है।'

सुभद्र! उस क्षणसे अब तक सबसे अधिक प्रभावित हुआ है मेरा हृदय अपनी छोटी भाभी देवी उर्मिलाके दर्शन करके। वे मूर्तिमयी ओजस्विता हैं। उन्हें उस प्रथम धन्य क्षणमें जब देखा—लगा वे असीम स्नेह एवं अपार दुर्धर्षिता की निगूढ़ मूर्ति हैं। एक ओर उनमें स्नेह, विनोद, माधुर्य उमड़ा पड़ता है तो दूसरी ओर इतनी तेजस्विता है कि उनके सम्मुख सम्भवतः सुरेन्द्र भी मुख न खोल सकें।

बड़ी भाभी तो त्रिभुवन वन्दनीया थीं। दृष्टि उनके श्रीचरणोंमें जाकर निबद्ध हो उठती थी। वे आराध्या थीं। उनके सम्मुख होने पर लगता था निखिल लोकेश्वरी महामाया, महाशक्तिके श्री चरणोंमें हम उपस्थित हैं। उनके सम्मुख न भय होता, न संकोच, किन्तु हृदय ऐसा बन जाता जैसा हम अत्यन्त छोटे शिशु हों।

मझली भाभीके सम्मुख जब भी मैं पहुँचा—मुझे सदा प्रतीत हुआ, वे माँ की—माता कौशल्याकी प्रतिमूर्ति हैं। वही शील, वही स्नेह, वही सात्विक संयम एवं वही अल्प भाषण। उनके प्रथम दर्शनमें ही मैं चौंक गया था—माँ की भी प्रतिमूर्ति तो हैं धरा पर। अवधमें जब मैं उनके समीप पहुँचा, मुझे वही वात्सल्य प्राप्त हुआ—'कुमार, प्रसन्न हो? कुछ जलपान कर जाओ।'

सुभद्र! भाभी कह सकनेका साहस तो छोटी भाभीके लिए ही मैं अपनेमें पा सका था। प्रथम दृष्टिमें ही मुझे लगा था—वे अत्यन्त दुर्धर हैं उनके सम्मुख यमराज को भी सावधान रहना पड़ेगा कि कोई क्रिया मर्यादाके विपरीत न हो। उनकी उपस्थितिकी उपेक्षा राज सदनमें मातायें भी कभी नहीं कर सकती थीं। छोटी माता कहा करती थीं—'महारानी की तेजस्वितातो मेरी उर्मिला बहूमें है।' इतना होने पर भी उनमें इतनी मृदुलता, इतना स्नेह था कि उनके सम्मुख मैं खुलकर हँस लेता था। उनसे हृदयकी बात कह लेता था। उस दिन जब उनके प्रथम दर्शन हुये—मन कहता था—'इनकी बन्दना करके अभी इनसे परिचय कर लो।' किन्तु सब समय तो अपनी इच्छा हम सार्थक नहीं कर सकते।

उसी क्षणमें तीनों भाभियोंकी अनुजा भी दृष्टि पड़ी थीं। कहना चाहिये—उनकी दृष्टिसे मेरी दृष्टि चार हो गयी। लगा हृदय चला गया उनके समीप और ……।

'अब रहने नहीं देंगे आप ……।' देवी श्रुतिकीर्तिने पुनः अत्यन्त सलज्ज भावसे बाधा दी।

सुभद्र ! इन लोगोंको पर्याप्त अवसर थे। इन्होंने हम लोगोंको बार-बार देखा था। कौन जाने राज सदनकी अट्टालिकासे सुमन भी समर्पित किये हों। इन लोगोंको अपनी धातृयोंसे पता लग गया था महाराज जनक के विचारका और इन्होंने अपने अपने लिये वर पहिचान भी लिये थे; किन्तु हम लोग………

'अब तो आप मर्यादा भी विस्मृत होते जा रहे हैं।' देवी श्रुतिकीर्तिने कटाक्ष पूर्वक देखा।

'सुभद्र ! इस चर्चाको यहीं रहने देना पड़ेगा।' शत्रुघ्न कुमारने अपनी सहधर्मिणीकी ओर देखा—'देविको असन्तुष्ट करना अभीष्ट नहीं है मुझे।'

* * *

महाराज जनकका स्वागत-सम्भार दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। प्रति दिन-प्रति समय नवीन आतिथ्य, नवीन समादर नवीन उत्साह एवं उल्लास।

मिथिला नरेशके राज सेवक अद्भुत सेवा-निपुण हैं। सुना था—मिथिला ज्ञानियोंका नगर है। प्रत्यक्ष देखा कि वहाँके आचार्य योगीश्वर याज्ञवल्क्यने अपनी अचिन्त्य शक्तिसे समस्त सेवकों तक को 'परचित्त ज्ञान' दे दिया है। हमें कोई आवश्यकता हुई और राज सेवक वही वस्तु लिये नम्रतापूर्वक उपस्थित हैं। अयोध्यासे आये सभी लोग इस तत्परता पर विमुग्ध थे।

'एक बात अवश्य विपरीत दिखायी पड़ी।' इस बार कुमारने देवी श्रुतिकीर्ति को चौंका दिया। वे ध्यान पूर्वक देखने लगीं अपने आराध्यका मुख।

सुभद्र ! हमने सुना था कि मिथिला विदेह नगर हैं। वहाँके समस्त नर-नारी देहातीत, ज्ञानी, विरक्त एवं संसारके सम्बन्धोंसे सर्वथा उदासीन हैं, किन्तु हमने जो देखा—कोई मेल नहीं था उससे जो हमने सुना था।

'देव ! आनन्द कन्द श्री रघुकुल चन्द महा मुनीन्द्रोंके चित्तमें भी अनुराग प्रवाह प्रवाहित कर देते हैं, केवल अपनी कृपा दृष्टिसे।' इस बार मस्तक झुका कर सुभद्र बोल रहे थे—'वे प्रेमधाम जहाँ सानुज समुपस्थित हों—प्रेमपूर उमड़ पड़े, इसमें तो न कोई आश्चर्य है, न विपरीतता। ऋषियोंके श्री मुखसे सुना है—हृदय जितना सांसारिक सम्बन्धोंसे अनासक्त होगा—उतना शुद्ध होगा। वह जितना वैराग्य-विशुद्ध एवं विवेकोज्वल होगा, श्री रामप्रेमका प्रवाह उतने ही वेगसे उनमें प्रकट हो सकेगा।'

देवी श्रुतिकीर्तिने सुभद्र की ओर कृपापूर्वक देखा। सुभद्रने उनके हृदय की बात कही थी।
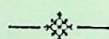
१०—विवाह

सुभद्र ! मिथिलामें हमारा प्रतिदिन नवीन स्वागत हो रहा था। ऐसा लगता था, जैसे हम आज ही यहाँ आये हों। महाराज जनकके राज ज्योतिषियोंने जो विवाह-मुहूर्त निश्चय किया था, हमारे कुलगुरुने भी उसी का समर्थन किया।

वह चिर प्रतीक्षित मुहूर्त भी आया, जब श्री रघुनाथ वरवेशमें सुसज्जित हुए। सुभद्र, हम तीनों भाइयोंका विवाह तो जैसे अपने अग्रजके प्रसादके रूपमें हो गया। वर वेश बनानेका अवसर ही नहीं आया यहाँ, किन्तु हुआ यह ठीक ही। मैंने अपने जीवनमें शतशः विवाह देखे हैं। हम चारों भाइयोंके कुमारोंका विवाह हुआ है हमारे सम्मुख, किन्तु श्रीरघुनाथ की जो शोभा वर वेशमें हुई थी—वह छवि पारावार अन्यत्र असम्भव है। वह वेश तो उन रघुवंश भूषणको ही शोभा देता है। उन्हींके उपयुक्त है।

'त्रिभुवनके स्वामी ही तो सच्चे वर हैं।' सुभद्रका स्वर भावक्षुब्ध होगया।

'बस चलता तो मिथिला की सब नारियाँ—कुमारियाँ ही नहीं—वधुयें तक श्री रघुनाथके उत्तरीयका छोर पकड़े अयोध्या आ जातीं सुभद्र !' शत्रुघ्न कुमारने सस्मित देखा अपनी सहचरी की ओर—'किन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम को तो एक पत्नी व्रतकी मर्यादा स्थापित करनी थी। पता नहीं कितनी अबलाओंके अबल अन्तर अपनेमें मसोस कर रह गये।

'दशग्रीवकी बेचारी बहिन आयी थी । उसे तो आप लोग अवध ले नहीं आ सके'—देवी श्रुतिकीर्तिने तनिक व्यङ्ग्यपूर्वक कहा—'मिथिलाकी ललनाओंको ले आते ?'

'मैं स्वीकार करता हूँ देवि, इस सम्बन्धमें हम पर्याप्त अक्षम हैं।' कुमार किञ्चित हँसे—'हम मिथिलासे जिनको ले आये, उनसे अधिक ले आना हमारी क्षमता नहीं थी।'

* ❀ *

विदेह नरेशके कुल पुरोहित महर्षि गौतमके सम्मान्य तनय शतानन्दजी तथा हमारे कुलगुरु महर्षि वशिष्ठके नेतृत्वमें जब सस्वर मन्त्रोच्चारण प्रारम्भ हुआ—श्रुतियोंको हमने साक्षात् स्वरूप ग्रहण करते देखा।

महर्षि आवाहनके लिए पुष्प अपने करोंमें उठाते थे और उनके मन्त्रोच्चारणसे पूर्व ही देवता अपने आसनों पर उपस्थित दृष्टि पड़ते थे। सुना है, देवता मन्त्र मूर्ति हैं ; किन्तु उस समय तो देवता प्रथम आ विराजते थे एवं उनके सम्मुख उच्चरित होते थे ।

'महाराजाधिराजके अश्वमेध यज्ञमें यह दृश्य हमने स्वयं देखा है देव !' सुभद्रने सविनय कहा—'श्रीचक्रवर्ती महाराज तो देवराजके सम्मान्य सखा थे । उनकी भुजाओंकी छायाने सुरोंको त्राण दिया था असुरोंसे। उनके कुमारोंके परिणयमें उपस्थित हुए वे—सर्वथा स्वाभाविक था।'

आहुति देनेका समय आया और मेष वाहन, द्विमूर्धा, सप्तजिह्व भगवान हव्यवाह साकार हो गये। उन्होंने प्रत्यक्ष आहुति-ग्रहण स्वीकार किया।

एक चर्चा मैं भूला जा रहा हूँ सुभद्र ! जब हम सुसज्जित होकर, वरवेश मन्जु श्रीरघुनाथको अपने मध्यमें अश्वारूढ़ करके जनवासे से मिथिलाके राजसदनकी ओर प्रस्थान करने लगे—एक शुभैषीने श्रीचक्रवर्ती महाराजको सूचित किया—'देव, लङ्काका अधीश्वर अत्यन्त दुष्ट है । स्वयंवर सभासे वह विफल मनोरथ लौट गया है। कहीं ···।

'उसकी मृत्यु श्रीरामभद्रके हाथों सृष्टि कर्त्ताने निश्चित कर दी है और आज वत्स रामको अवकाश नहीं ।' पितृ चरणोंके बोलनेसे पूर्व ही महर्षि विश्वामित्रकी अभय वाणी सुनायी पड़ी—'आशङ्का अकारण है राजन् ! क्षत्रियके धनुषसे ब्राह्मणके स्त्रुवामें अनन्त शक्ति होती है। रावण

मूर्ख नहीं है । उसे पता होगा कि महर्षि वशिष्ठके आमन्त्रण पर घोर आङ्गिरस यहीं हैं और उनके हाथमें स्रुवा हो—यमराज भी काँपता रहता है । उसे भी तुच्छ हविके समान वे आहुति बना दे सकते हैं ।'

स्वेच्छासे घोर आङ्गिरसने शान्ति कर्मकी अध्यक्षता स्वीकार कर ली थी । यह तो सर्वविदित है कि वे जहाँ हवन कुण्ड पर दर्शकके रूपमें भी हों, विघ्नोंकी छाया भी वहाँसे योजनों दूर रहती है ।

* * *

हम विवाह मण्डपमें आये । वह रत्न मण्डप—विश्वकर्माकी कला कृति भी लज्जित थी वहाँ । त्रिभुवनकी कलाका सार सर्वस्व जैसे एकत्र हो गया था ।

सपत्नीक मिथिला नरेशने अपने श्रीकरोंसे पादप्रक्षालन प्रारम्भ किया । वे वन्दनीय—उन्होंने महर्षियोंके, पितृ चरणके एवं श्रीरघुनाथके भी चरण धोये, यहाँ तक तो ठीक, किन्तु जब स्वर्ण-कोपर सम्मुख रखकर हमारे सम्मुख आ बैठे—सुभद्र, इतने सङ्कोचमें मैं कभी नहीं पड़ा । न भाग सकता था, न वारित कर सकता था । गुरुजनोंके सम्मुख बोलनेमें सदासे मेरी वाणी पंगु हो जाती है । इतनेसे ही छुटकारा नहीं था । माता सुनयना ने अपने अञ्चलसे ही पैर पोंछने प्रारम्भ कर दिये ।

विवाह प्रारम्भ हुआ । श्रीरघुनाथने भगवती भूमिजाका पाणिग्रहण किया । सप्त पदी, सिन्दूरदान आदि सभी विधियाँ सम्पन्न हुईं । साङ्ग सम्पूर्णता तो उसी दिन प्राप्त हुई थी उन विधियोंको ।

सब विधियाँ पूर्ण हुईं—अपार दहेज दिया महाराज जनकने, किन्तु सच पूछो सुभद्र तो मैंने यह सब कुछ देखा नहीं—केवल सुन लिया है । मण्डपमें उपस्थित रह कर भी मैंने न विधियाँ देखीं और न दहेज सामग्री देखी । जैसे ही बड़ी भाभी मण्डपमें आयीं, मेरी दृष्टि उनके ज्योतिर्मय, पल्लव कोमल, किंशुकारुण श्रीचरणोंमें लग गयी । जब वे चरण श्रीरघुनाथके पाद पद्मोंके पीछे सप्तपदी करने लगे—उन चारों चरणोंको साथ-साथ देखकर मुझे लगा—जीवनका परम फल प्राप्त हो गया । अन्तर धन्य हो उठा । उन श्रीचरणोंसे दृष्टि हटी ही नहीं । फिर मुझे पता नहीं कि उस विवाह मण्डपमें क्या हो रहा है ।

* * *

मुझे सखाओंने पीछे बताया—श्रीरघुनाथका विवाह सविधि सम्पन्न हो जानेके पश्चात् महाराज जनक हमारे कुलगुरुके श्रीचरणोंमें उपस्थित

हुए। उन्होंने कोई प्रार्थनाकी। वाद्योंकी ध्वनि, मङ्गलगान एवं मन्त्र पाठके मध्य उनके शब्द दूसरे लोग सुन सकें—सम्भव नहीं था।

महर्षि वशिष्ठने पितृ चरणोंसे कुछ मन्त्रणाकी और फिर मिथिला नरेशके प्रति ऐसी भङ्गी कुलगुरुकी व्यक्त हुई, जैसे विदेह राजके प्रस्तावको स्वीकृति प्राप्त हो गयी। अत्यन्त आह्लादमें भरे महाराज जनक अपने अन्तःपुरमें पधारे।

राजसेवकोंने विवाह मण्डपमें स्वर्ण सिंहासन ला धरे। इस बार मण्डपमें महाराजके साथ उनके अनुज भी सपत्नीक पधारे और उनके साथ तीन कुमारियाँ आयीं।

हमारे कुलगुरु हम तीनों भाईयोंको लेकर उठे और हवनीय वेदिकाके समीप आ गये। हम जैसे बैठे थे, जिस साज-सज्जामें थे, उसीमें हमें भी 'वर' बना दिया गया।

वही मन्त्र पाठ, वही आहुतियाँ, वही पाणि-ग्रहण संस्कार सप्तपदी, सिन्दूरदानादि विवाहसे पूर्वके कृत्य अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें कुलगुरुने सम्पन्न कराये। सुभद्र. अन्ततः हम भी भाग्यशाली निकले। जिनको देखते ही लगा था कि हृदय वहीं रह गया है, उनका कर पल्लव मेरे हाथोंमें आ गया था एवं जिन्हें चित्तने बन्दनीया माना था, वे बन्दनीया होकर सन्निकट हो गयी थीं। उनका स्नेह मेरा स्वत्व बन गया था।

हम तीनों भाइयोंका विवाह सम्पन्न होते-होते रात्रिका तृतीय प्रहर लगभग समाप्त हो चुका था। कुलगुरुके आदेशसे एक ही सिंहासन पर पितृ चरणोंके समीप हम चारों भाई, चारों मैथिल राजकुमारियोंके साथ बैठे।

महाराज जनक सूत, मागध, बन्दी जनोंको पुरस्कार एवं विप्रों, नापित आदि जनोंको नेग देनेमें व्यस्त हुए और ब्रह्ममुहूर्त आ गया। कुलगुरुके आदेशसे सबको ही प्रातः कृत्यके लिए अवकाश प्राप्त हुआ।

सुभद्र! सचमुच मुझे तो लगा कि बहुत बड़े सङ्कोचसे अवकाश मिला है। गुरुजनोंके मध्य, अपने अग्रजोंके समीप सपत्नीक बैठना—मुझसे तो मस्तक भी नहीं उठाया जाता था।

* * *

अयोध्या मर्यादा भूमि है; किन्तु मिथिला रस भूमि है सुभद्र! वहाँकी ललनायें लावण्य मूर्तियाँ तो हैं ही, उन स्वर्ण लतिकाओंमें स्नेहकी

सुरभि एवं विनोदका मधु परिपूर्ण है । उनके व्यङ्ग-विनोद, उनके रस-परिहास—वे तो चलते ही रहते थे ।

राज सदनमें माता सुनयनाका वात्सल्य प्राप्त हुआ हमें—अवधकी राज महिषी, माता कौशिल्याको मानो हमने जनकपुरमें पुनः प्राप्तकर लिया ; किन्तु माताके समीपसे हटते ही जो स्थिति होती थी हमारी—कमलिनियोंमें जीवन आ जाय और सुधाकर उनके मध्य पुष्करिणीमें उतर आवे·······।

श्रीरघुनाथके सान्निध्यने उन सबको मुखरा बना दिया था । सबसे कम उनके व्यङ्ग एवं हास्य के शर मुझ तक पहुँचते थे। मेरे तीनों अग्रज मेरे सदा ही रक्षक रहे हैं और उनकी उपस्थितिमें हास-परिहासमें भाग लेने योग्य मुखरता मुझमें कहाँसे आती । चाहता तो भी इतनी धृष्टता मेरी प्रकृतिमें थी ही नहीं ।

लगता था, समस्त नगरके अन्तःपुर राज सदनमें एकत्र हो जाते हैं, जब हम वहाँ होते हैं ।

'श्रीरघुनाथका सान्निध्य महामुनीन्द्रोंका भी चिरकाक्षणीय है देव ।' सुभद्रने संयत स्वरने कहा ।

'ठीक कहते हो सुभद्र ! कुमार कहते गये—'राज सदन तो राज सदन ही था, हमारे अश्व जिन राजपथों या वीथियोंसे निकलते थे—अट्टालिकायें झूम उठती थीं । अब हमसे अवगुण्ठनकी आवश्यकता भी नहीं मानी जाती थी । उन हर्म्योंसे पुष्पोंके साथ सरस व्यङ्गके सुमन भी झरते थे ।'

* ❀ *

अब हमें अवधका स्मरण होने लगा था । हमारा स्वागत नित्य नूतन हो रहा था । हमारे लिए नगरकी सज्जा नित्य परिवर्तितकी जाती थी । मिथिला नरेशके सामन्त सभासद एवं नागरिक प्रमुख गणोंमेंसे कोई न कोई प्रतिदिन अपने लिए 'किञ्चित सेवाका सौभाग्य' प्राप्त करनेकी प्रार्थना लिए श्रीचक्रवर्ती महाराजके चरणोंमें उपस्थित हो जाता था । प्रतिदिन नूतन मनोरञ्जन, नूतन व्यञ्जन, नूतन समारोह, किन्तु जन्म भूमि जिसे स्मरण न आवे सुखोंके स्रोतमें पड़ने पर, वह कृतघ्न भी क्या मनुष्य कहला सकता है ।

पितृ चरण प्रतिदिन मिथिला-नरेशसे प्रस्थानकी अनुमति चाहते और प्रतिदिन बद्धाञ्जलि साश्रुनयन महाराज जब खड़े होकर अनुरोध करते—'यह सौभाग्य मुझे फिर कहाँ प्राप्त होगा। सनाथ होनेका सुअवसर इतने शीघ्र छीन लिया जाय, ऐसा कोई अपराध हुआ इस जनसे ?'

ऐसी अवस्थामें कोई आग्रह भी कैसे कर सकता है सुभद्र !

* * *

अन्ततः महर्षि विश्वामित्र जी तथा हमारे कुलगुरुने महामुनि शतानन्दजीको समझाया। अपने कुलपुरोहितके आदेशको महाराजने स्वीकार किया। हमें विदा करनेकी प्रस्तुति राजसदनमें होने लगी।

सुभद्र ! वह अपार स्नेह, वह वियोगकी व्यथा पूर्ण घटिका, वह व्याकुलता भरा वात्सल्य—वशकी बात नहीं है कि महाराज अथवा माता सुनयनाकी उस दशा या उनके स्नेहका वर्णन कर सकूँ

महाराजके उपहारोंका वर्णन अशक्य है और अशक्य है उनकी विनम्रता तथा औदार्यकी चर्चा। सभी सुहृदों एवं नगर जनोंकी दशा ऐसी थी, जैसे उनके अपने सगे सुहृद ही उनसे विमुक्त हों रहे हों।

सानुज मिथिला नरेश एवं उनके रनिवासकी वेदना क्या कही जाय—हमें स्पष्ट लगा कि मिथिलाके जन-जनको अपनी निजी पुत्रियोंके विदाकी अवस्था प्राप्त हो गयी है।

* * *

हमारी बारात अवध लौटी। अवधका उल्लास अवधकी उमङ्ग—पूर्णिमाके अखण्ड सुधाकरके दर्शनसे समुद्रमें जो उत्ताल तरंगें उठती हैं, अवधकी उल्लास तरङ्गोंकी तुलनामें वे भी लहरियाँ कहने योग्य ही हैं। मातायें तो जैसे आनन्दके मारे उन्मादिनी हुई जा रही थीं। अवधके घर-घरमें महोत्सव एवं जन-जनके अन्तरमें अपार आनन्द उमड़ पड़ा था।

—×—

११--परोक्ष-प्रसंग

हमारा सबसे बड़ा सौभाग्य यह था कि महर्षि विश्वामित्र हमारे साथ जनकपुरसे अवध आये और उन अनुपम तपोधनने श्री चक्रवर्ती महाराजके अनुरोध पर राज सदनके भीतर ही निवास स्वीकार कर लिया।

उन वीतराग, एकान्त अरण्य प्रिय, सृष्टि समर्थ महामहिमका अतर्कित स्नेह हमें प्राप्त था। हमारा राज सदन परिपूत हो गया। हम चारों भाई रात्रिशयनसे पूर्व उनकी चरण सेवा करनेका सौभाग्य पा जाते थे। मातायें उनकी वन्दना कर लेती थीं।

सुभद्र ! ब्रह्मर्षि विश्वामित्रका प्रभाव जितना अपार है, उनकी हम पर कृपा भी उतनी ही असीम थी ; किन्तु वे महातापस—अन्ततः राज सदनका आवास उन्हें कैसे सुविधाजनक हो सकता था। पितृ चरणोंके अनुरोधको स्वीकार करके वे कुछ काल अवधमें रहे, यही उनकी महती अनुकम्पा थी। अन्ततः उन्हें तो अपने आश्रमको पदार्पण करना ही था।

* * *

जब भी अवकाश मिलता, जब भी श्रीरघुनाथ किसी कार्यमें लगे होते और मेरे सहोदर अग्रजको कुछ समय बैठना सुविधाजनक प्रतीत होता, श्री भरतलालजी उनके समीप जा बैठते तथा मैं भी उनकी चर्चा श्रवणके लिये उत्कर्ण समीप बैठ जाता।

सुभद्र ! संसारमें श्रीरघुनाथके चरितोंके श्रवणसे अधिक पुण्यतम और कोई कार्य नहीं तथा उतना रसप्रद भी दूसरा कोई साधन नहीं। श्री भरतलालजी एक ही चरितको बार-बार भिन्न-भिन्न प्रकारसे पूजते थे और मेरे अग्रज सुनाते थे अत्यन्त उत्साह पूर्वक। मेरे श्रवण परिपूत हुआ करते थे उन सुधा-स्नात शब्द राशियोंसे।

"हम श्री अवधसे महर्षिके पीछे-पीछे चले थे" मेरे सहोदर अग्रजने सुनाया—"अवधका सीमान्त कानन हमारा परिचित था। आखेट क्रीड़ामें हम उसे देख चुके थे। पुण्यसलिला, मानस नन्दिनी सरयूके तटके लगभग समीप होकर ही हमारा पथ जाता था। यदा-कदा हम तटसे दूर होते थे।

सिद्धाश्रम*—[महर्षिके आश्रमका यही नाम है] जब कुछ योजन रह गया, तब हमने भगवती-भागीरथीके दर्शन किये और उनके किनारे-किनारे चले ।'

'तात ! नवीन-नवीन पुष्प, तरु, लतायें, पक्षी-पशु आदिकोंसे परिपूर्ण है कानन ।' वे मेरे ओजनिधि अग्रज कहते गये—'इतने सुरम्य काननको दुष्ट असुरोंने आतङ्क पूर्ण कर रखा था । सहज तपोवन होने योग्य है वह भूमि । हम काशी नहीं गये ; किन्तु भगवान विश्वनाथकी पुरीके प्रान्त भागसे निकले । कितना पवित्र है वह प्रदेश । जन-जन पर जैसे भगवती हंसवाहिनी प्रसन्न है ।'

'मार्गमें महर्षिने मुनियोंके आश्रमोंमें विश्राम किया । सर्वत्र सोल्लास स्वागत किया मुनिवृन्दने महर्षिका । हमने अद्‌भुत सुस्वादु फलों, कन्दों एवं अंकुरोंका आस्वादन किया । महर्षिका हम पर अपार वात्सल्य था । वे कृपा पूर्वक तनिक-तनिक दूरी पर विश्राम करते थे । हमसे बार-बार पिपासा एवं क्षुधाके सम्बन्धमें पृच्छा करते रहते थे ।'

'काशिराज पितृ चरणोंके मित्र हैं उन पर भगवान् शूलपाणि सानुकूल हैं । असुर जैसे अवधके प्रदेशोंमें आनेका साहस नहीं करते, काशीका सम्पूर्ण प्रदेश भी उसी प्रकार उनके लिये दुर्धर्ष है ।'

'हमें न मार्गमें श्रम हुआ, न कोई असुविधा । हिंस्र पशु भी समुत्सुक दर्शककी भाँति स्वागत करतेसे पथमें प्राप्त हुए ; किन्तु तात !' उन बन्दनीय अग्रजने बताया—'काशीका पावन प्रदेश पीछे छूटा और बनोंमें अद्‌भुत परिवर्तन दृष्टिगत हुआ । जैसे हम किसी अज्ञात आतङ्क ग्रस्त प्रदेशमें पहुँच गये हैं । पशु-पक्षी सभी जैसे वहाँ नित्य सावधान रहनेके अभ्यासी हैं । हमारा स्वागत वे भी करते थे, पथके समीप वे भी आते थे, उल्लास उनके नेत्रोंमें भी हमने देखा ; किन्तु पद-ध्वनि सुनते ही उनकी प्रथम प्रतिक्रिया यह होती कि वे चौंक उठते, पलायनको प्रस्तुत हो जाते, समय उन्हें कम्पित कर देता ।'

'वत्स ! अपना सिद्धाश्रम अब अधिक दूर नहीं है । हम सायं संध्या वहीं करेंगे ।' महर्षिने सूचित किया हमें—'किन्तु तात ! अब तनिक सावधान रहना । असुरोंके आवास भी समीप ही हैं ।'

मैं पता नहीं कबसे उन दुष्टोंकी प्रतीक्षा कर रहा था और सत्य तो यह कि निराश हो गया था । मुझे लगता था—वे दुष्ट-दण्डन्यासी तापसोंको

ही पीड़ित करते हैं। हमारे धनुष कहीं दूरसे देखकर भाग गये। महर्षिकी सूचनासे मुझे प्रसन्नता ही हुई। जान बूझकर मार्गमें पड़े शुष्क पत्रों पर पादक्षेप करता मैं चलने लगा था।'

'वत्स रामभद्र सावधान।' सहसा भयंकर आँधी चलनेका शब्द हुआ और महर्षि चौंके—'देखो, मुनिघातिनी दारुण राक्षसी आ रही है।'

अर्ध निमेषमें मेरा धनुष ज्यासज्ज हो गया था एवं त्रोणगत वाण मेरे करमें आ चुका था। आर्यने मुझसे भी अधिक त्वरा अपनायी; किन्तु हम दोनोंके दक्षिण कर उठ नहीं सके। हम ठिठक गये। वह राक्षसी सही—स्त्री थी। वह पर्वताकार, अञ्जन, कृष्णा, मुक्त-मूर्धजा, विकरालास्य कोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, विकट दीर्घ नखा, विस्फारित नेत्र मुखा, गगन चारिणी, आत-तायिनी थी। क्रूराघात करने दौड़ी आ रही थी; किन्तु अवध्य नारी वर्गमें तो थी। करना क्या चाहिये, यह हम दोनों ही तत्काल निश्चित नहीं कर सके।

'सोच मत वत्स!' महर्षिने आर्यको आज्ञाके स्वरमें सम्बोधित किया—'इस पापिष्ठा, मुनिघातिनीको मार दे।'

गुरुकी आज्ञा तो सर्वोपरि शास्त्र है तात! आर्यका कर धनुष पर पहुँचा एवं छूट गया उनका नित्य अमोघ वाण। उनके धनुषका ज्याघोष एवं राक्षसीका चीत्कार एक साथ दिशाओंमें गूँजा।'

'वज्राघातके समान शब्द हुआ। योजन दीर्घ काया वह दारुण भयङ्कर नाद करते गिरी। विचूर्ण हो उठा कानन। वाणने कपाल फोड़ दिया था और प्रसारित कर-पाद राक्षसी भूमि पर निष्प्राण पड़ी थी। उसके शरीरको वन पशुओंके लिये छोड़कर हमने तनिक घूमकर पथ पकड़ा।'

* * *

'सिद्धाश्रम सचमुच सिद्ध—आश्रम ही है तात! शतशः तपोधन मुनिगण वहाँ महर्षिके पथ-दर्शन एवं संरक्षणमें साधना-मग्न रहते हैं। हमने वहाँ यज्ञीय कुण्डोंकी पंक्तियाँ देखीं। अतल गम्भीर उन कुण्डोंमें भगवान हव्यवाह नित्य निवास करते हैं। इन पवित्र यज्ञ कुण्डोंको राक्षस दूषित करते हैं, यह जानकर बड़ा क्रोध आया मुझे और जब यह ज्ञात हुआ—महर्षि विश्वामित्रके शापका आतंक न हो, वे पुरुषाद सुरपूजित मुनियोंको भी उदरस्थ करनेमें नहीं हिचकेंगे—मेरा तो रक्त खौल गया।'

'मैं एक प्रसङ्ग छोड़ चला था' श्री लक्ष्मणलालने किञ्चित रुककर कहा—'ताड़काके निधनके पश्चात् महर्षिके भावोंमें कोई परिवर्तन हुआ—यह कहना तो ठीक नहीं है ; किन्तु उनका वात्सल्य जो पहिलेसे ही हम पर बहुत अधिक था—सीमा पार कर गया। उन्होंने आज्ञा दी—'वत्स रामभद्र ! सुरसरिके तट पर यहीं चलो और जो दिव्यास्त्र एवं विद्यायें मैंने सहस्रशः वर्ष उग्रतम तप करके प्राप्तकी हैं, उन्हें सानुज ग्रहण करो।'

हम भगवती भागीरथीके तट पर चले गये। हस्त-पादादि प्रक्षालित करके आचमन किया हमने तथा महर्षिने भी। इसके पश्चात् महर्षिने दिव्यायुध प्रदान किये—धनुर्वेदके अध्ययनमें हमने उनका नाम मात्र ही सुना था। आपको स्मरण होगा तात—अपने कुलगुरुने शिक्षण कालमें कहा था—'वत्स ! इन आयुधोंका स्वरूप मैं भी जानता नहीं हूँ। ये अमित प्रभावापन्न, प्रलय सक्षम आयुध कैसे बनते हैं, कैसे प्रयुक्त होते हैं—यह बात पृथ्वी पर इस समय केवल चार जन जानते हैं। लङ्काधीश रावण, उसका पुत्र मघनाद, भगवान परशुराम एवं महर्षि विश्वामित्र । इन चारके ही समीपये आयुध हैं भी।'

हमें महर्षिने अपने वे सब दिव्यायुध प्रदान किये। उनके प्रयोग एवं उपसंहारकी विधि समझायी, उनके मन्त्र एवं देवतादि निर्दिष्ट किये। उन आयुधोंका प्रभाव अपार है तात ! किन अवसरों पर, कैसे प्रतिपक्ष पर उनका प्रयोग किया जाय, यह भी महर्षिने आज्ञाकी।

इन दिव्यास्त्रोंके अतिरिक्त महर्षिने हमें कृपा द्रवित होकर वह विद्या प्रदानकी जिसके प्रयोगसे प्रयोक्ताको दीर्घकाल तक न क्षुधा पीड़ित करेगी, न पिपासा, न निद्रा, न कोई आधि-व्याधि। अनशनकी स्थितिमें एवं अनिद्र रहते भी न उसका शरीर क्षीण होगा, न बलका ह्रास होगा, न आलस्य आवेगा और न अन्य किसी प्रकारका कष्ट होगा।

हमने सादर, सविनय महर्षिका यह अलौकिक प्रसाद ग्रहण किया। इसके पश्चात् हम सिद्धाश्रमकी ओर प्रस्थित हुए, जो वहाँ से समीप ही था।

महर्षिके पहुँचनेसे जैसे आश्रममें प्राण आगये। पशु-पक्षी तक फुदकने—चहकने लगे उल्लाससे। मुनि वृन्दने बड़े स्नेहसे हमारा स्वागत किया। हमारी पथ श्रान्तितो उस दिव्य भूमिमें प्रवेश करते ही दूर हो गयी थी; किन्तु हमारे विश्राम एवं हमारी भोजनादिकी सुविधाके लिए आश्रमके

मुनिगण जो व्यस्तता स्नेह वश प्रदर्शित कर रहे थे—बड़ा संकोच हो रहा था हम दोनोंको उससे ।

* * *

बड़े आनन्दसे हमने रात्रि विश्राम किया । मुझे राक्षसों पर तीव्र आक्रोश था और मैं उन्हें जितने शीघ्र सम्भव हो—समाप्त कर देनेको उत्सुक था । सौभाग्यसे यह अवसर दूर नहीं था । हम प्रातः काल उठे—यह पर्व दिवस था । श्रीरघुनाथने उठते ही मुझे सावधान किया कि हम प्रातः कृत्यसन्ध्यादि शीघ्र सम्पन्न करेंगे ।

महर्षिगण स्नानादिसे निवृत्त हों, इससे पूर्व ही हम दैनन्दिन कृत्यसे निवृत्त हो चुके थे । स्नानार्द्र अलकें सूखी नहीं थीं कि हमारे त्रोण पृष्ठ भाग पर कस गये और हमारे धनुष ज्यासज्ज हो गये ।

'आप निश्चित यज्ञ करें मुनिगणों के साथ !' श्रीरघुनाथने महर्षिके पावन पदोंमें मस्तक झुकाया और हमने महर्षिका अमोघ आशीर्वाद सुना—'विजय अनायास तुम्हारा वरण करे वत्स ।'

मुनिगण हवनीय कुण्डोंके समीप ऐणेयाजिनावृत वेदिकाओं पर आसीन हो गये । अन्तेवासियोंने समित, कुश, हवि एवं यज्ञपात्र यथास्थान रख दिये थे । गगन श्रुतियोंके स्वरसे गुञ्जित होकर पवित्र हुआ । भगवान हव्यवाहकी अरुणशिखायें आहुतियाँ पाकर सहस्रशः कुण्डोंसे उठने लगीं । सुरभित धूम्र कुण्डलियाँ बनाता धराकी श्रद्धाका उपहार स्वर्गको देने बढ़ा जा रहा था ।

हम दोनों भाई धनुष चढ़ाये, बाण लिये सतर्क खड़े थे । सहसा दिशाओंमें घोर शब्द होने लगा—जैसे भयंकर आँधी आ रही हो । गगन अन्धकाराच्छन्न होता चला आ रहा था । आर्यने एकबार मेरी ओर देखा—मुझे, सावधान करनेका संकेत था यह ।

काले, अरुण केश, अंगार नेत्र, त्रिशूलादि आयुध लिये सहस्र, सहस्र राक्षसोंके यूथ टिड्डी दलके समान उड़े चले आ रहे हैं—यह हमने देख लिया । दिशायें मल-मूत्र, शोणितपीव आदिकी पूयगन्धसे पूरित हो गयीं । हमने देखा आश्रम सीमाके एक ओरसे अपवित्र पदार्थोंकी वर्षा वन तरुओंको दूषित करती बढ़ी आ रही है ।

एक क्षण—एक क्षणमें तो सम्पूर्ण आश्रम पट उठेगा—लथपथ हो जायगा इस वर्षाके द्वारा । यदि एक भी विन्दु अपवित्र पदार्थोंका आश्रम

सीमामें पड़ गया, यदि एक भी मुनि अपवित्र होकर आसनसे स्नानार्थ उठनेको विवश हुये—व्यर्थ हो जायगा हमारा धनुर्धारण। व्यर्थ हो जायगी श्रीरघुनाथकी आश्वासन वाणी।

श्रीरघुनाथ अत्यन्त दयालु हैं। उन्होंने जो शर हाथमें ले रखा था, उसमें पुंख ही नहीं था। इन शत्रुओंको भी वे प्राण दण्ड देनेके पक्षमें कदाचित थे नहीं। जो इस आसुरी दलके दो नायक थे, ताड़का के वे दोनों पुत्र मारीच एवं सुबाहु, उनमें मारीच आगे उड़ा आ रहा था। श्रीरघुनाथने अपने करस्थ उसी बाणको चढ़ाया और छोड़ दिया। हमें पता नहीं, मारीचका क्या हुआ ? फरहोन उस बाणसे वह मरा तो नहीं होगा, कितनी दूर—कितने योजन दूर गिरा वह—कहा नहीं जा सकता।

मुझे राक्षसों पर क्रोध था और इतनी बड़ी सेना– महर्षिके यज्ञको निर्विघ्न होने देनेका उत्तरदायित्व था हम पर। महर्षिने जो दिव्यास्त्र हमें प्रदान किये—उनके प्रसादसे उनकी सेवाका ऐसा अवसर क्या पुनः आना था। मैंने महर्षिके दिये दिव्यायुधोंमें-से एकके मन्त्रको स्मरण किया और छूट गया बाण धनुषसे।

लगभग मेरे साथ ही श्रीरघुनाथके धनुषसे भी उनका दूसरा बाण छूटा। इस बार सुबाहु लक्ष्य था उस बाणका और बाण सामान्य बाण नहीं था—अग्नि दैवत मन्त्रोंकी शक्ति थी उसके साथ। सुबाहु इस प्रकार भस्म हो गया कि उसकी चिटकीभर भस्म भी धरा पर नहीं पहुँची।

श्रीरघुनाथने अब मेरी ओर देखा। मुझे दूसरा बाण चढ़ानेका अवसर प्राप्त ही नहीं हुआ। मेरे द्वारा जो दिव्यायुध प्रयुक्त हुआ था, मैं स्वयं चकित था उसका प्रभाव देखकर। पूरी राक्षसी सेना छिन्न-भिन्न पड़ी थी धरा पर। उनमें-से एकको भी पहिचानना शक्य नहीं था। सच तो यह कि वहाँ कोई शरीर या सिर नहीं थे। दूर तकका वन्य प्रान्त केवल मांस एवं अस्थियोंके चिथड़ोंसे—नन्हें टुकड़ोंसे पटा पड़ा था।

गगन निर्मल हो गया था। दिशायें स्वच्छ थीं। यज्ञीय धूम्रकी सुरभि पूर्ण हो गयी थी दिशाओंमें। श्रुतियोंके स्वर गगनको परिपूत कर रहे थे। एक भी रक्तका छींटा, अपवित्र द्रव्योंकी वर्षाकी एक भी बूंद आश्रम भूमिकी सीमाका स्पर्श नहीं कर सकी थी।

❀ ❀ ❀

महर्षिका यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। वेदियोंसे उठानेके पश्चात् उन तपोधनोंने जिस उल्लाससे स्वस्ति-वाचन करते हमारा अभिषेक किया—

वह स्नेह, वह उल्लास, वह करुणा—आशीर्वाद जैसे शरीर धारी हो गया हो।

हमारा कार्य इस प्रकार महर्षिके आश्रममें पहुँचनेके दूसरे दिन प्रथम प्रहरमें ही सम्पूर्ण हो गया। अब तो हम दोनों भाई मुनिगणोंके वात्सल्यका आस्वादन करते—अतिथि थे वहाँ।

गिने-चुने दिन ही वहाँ हम रह सके—आश्रम-जीवनकी एक झांकी मात्र देखी हमने और मिथिलासे चर आया महर्षिके समीप। महाराज जनकने अपनी भुवन वन्दिता कुमारीके स्वयंवरके लिये धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा घोषित करदी थी। प्रतिज्ञा घोषित हो जानेके कारण किसी नरेश या राजकुमारको आमन्त्रित करनेका प्रश्न ही नहीं था; किन्तु महाराजकी इच्छा थी कि कुछ तपोधन अवश्य पधारें उनकी कन्याके परिणय समारोहके अवसर पर। इसी उद्देश्यसे उन्होंने महर्षिको भी आमन्त्रित किया था।

'तात रामभद्र! महाराज जनकने हमें आमन्त्रित किया है। उनकी अयोनिजा कन्याका स्वयंवर है। शिव धनुषके भङ्ग करनेकी प्रतिज्ञा घोषित हो चुकी है।' महर्षिने हम दोनोंको पूरा समाचार सुनाकर कहा—'भूमण्डके वीरमानी अधिकांश नरेश आवेंगे। इस कौतुकको देखने तुम सानुज साथ चलो! क्योंकि किसी नरेशको आमन्त्रण नहीं गया है, तुम्हारे वहाँ पहुँचनेसे अनामन्त्रित पधारने या अवध नरेशके सम्मानमें व्याघातका प्रश्न नहीं आता।'

'हम तो श्रीचरणोंके अनुगत हैं।' आर्यने सविनय अपनी स्वीकृति व्यक्त करदी।

हम मुनि-मण्डलीके साथ दूसरे दिन प्रातःकाल ही मिथिलाकी ओर प्रस्थित हो गये।

* * *

हम दोनों भाइयोंको प्रतीत ही नहीं हो रहा था कि हम यात्रा कर रहे हैं। मुनि-समुदाय प्रातः कृत्य करके कहींसे भी प्रस्थान करता था। मध्याह्न कृत्य एवं भोजनादिके लिये भी विश्राम होता। तीसरे प्रहर कुछ यात्रा करके सायं-संध्याकालके पूर्व ही रात्रि-विश्रामके स्थान पर पहुँच जाते थे। इतने पर भी महर्षि एवं मुनिगण निरन्तर ध्यान रखते थे कि हम श्रान्त न हो जायँ। हमें पिपासा या क्षुधा प्रतीत हो, उससे पूर्व ही महर्षि आग्रह करने लगते थे जल-फल-कन्दादि ग्रहण करनेका। रात्रि-विश्रामके प्रारम्भमें महर्षिके पाद-सम्वाहनका सौभाग्य भी कुछ क्षणको

ही प्राप्त होता था। हमने चरण-सम्वाहन प्रारम्भ किया और वे दयाधाम आग्रह करने लगते—हम विश्राम करें। क्षण-क्षण पर उनका आग्रह बढ़ता जाता और हम उठने को विवश होते।

सानन्द यात्रा चल रही थी हमारी। सहसा एक अद्भुत स्थान मार्गमें मिला। पुष्प भार नमित लतिकायें, परिपक्व फल वृक्ष, सुमनोहर जलाशय—लगता था, अवश्य कोई ऋषिआश्रम है यह। वृक्ष मनुष्यके करोंके क्रम बद्ध लगाये थे। लतायें प्रस्तीर्ण हो चुकी थीं; किन्तु उनके मूल स्पष्ट कहते थे कि कभी किसी सुरुचिपूर्ण सहृदयके करोंसे वे सिञ्चित होती थीं। न निर्गन्ध पुष्प थे, न कण्टक तरु या अपावन वृक्ष; किन्तु तात! हमें सर्वाधिक आश्चर्य यह देखकर हुआ कि इतने सुरम्य स्थान पर कोई पशु, कोई मृग या मक्षिका नहीं थी। चर जीवन का कोई चिह्न वहाँ कहीं सप्रयत्न देखने पर भी दृष्टि नहीं पड़ा।

अवश्य हमने एक मूर्ति देखी वहाँ—पाषाण की नारी मूर्ति। इतनी सप्राण, इतनी कलापूर्ण प्रतिमा जो कोई कलाकार कदाचित ही बना सके। विषाद की रेखायें गहरी थीं उस मूर्तिके मुख पर और लगता था, वह अब बोलेगी, अब क्रन्दन कर उठेगी।

'भगवन्! यह किसका आश्रम है?' आर्यने विनम्र होकर पूछा—'यहाँ कोई प्राणी क्यों नहीं है? और यह प्रतिमा किन वन्दनीया की है?'

'तात! यह महर्षि गौतमका आश्रम है। इन्द्र की कलुषित बञ्चनासे ठगी गयी यह महर्षि की साध्वी पत्नी अहिल्या हैं। महर्षिके शाप का प्रभाव देख रहे हो तुम यहाँ—यह शाप ही है कि ये आज पाषाणी हैं और आश्रम प्राणि-हीन है।' महर्षि का कण्ठ भर आया करुणसे हमें यह सब बतलाते हुए।

हम दोनों भाई उस मूर्तिके समीप आगये थे और ध्यानसे उनके श्री मुख को देखने लगे। महर्षि हमारे पीछे आ खड़े हुये और उन्होंने अद्भुत भाव भरे शब्दोंमें आदेश दिया—'वत्स रामभद्र! तुम अपने श्री चरणोंसे इनको किञ्चित स्पर्श कर दो तो इनका शापोद्धार हो जाय। सुदीर्घकालसे प्रस्तर मूर्ति बनी, अन्तः संज्ञा सम्पन्न ये ऋषि पत्नी तुम्हारी चरणरज की प्रतीक्षा कर रही हैं। तुम्हारी चरण धूलि ही इन्हें इस पाषाणत्वसे मुक्ति प्रदान कर सकती है। चरणसे इन्हें स्पर्श करो वत्स।'

आर्य अत्यन्त संकुचित हो गये थे, किन्तु महर्षिके आदेश की अवहेलना सम्भव नहीं थी। उन्होंने अपना दक्षिण-पाद उठाया और धीरेसे स्पर्श किया।

हम दोनों भाई चकित रह गये। वह मूर्ति अब वहाँ नहीं थी। निमेषार्धमें वह मूर्ति अद्‌भुत तेजोमयी देवीके रूपमें परिवर्तित होगयी थी और वेग पूर्वक उठकर आर्यके श्री चरणों पर गिर पड़ी थी। चौंक कर आर्य पीछे हटे तो उस तेजोमयी देवीने बद्धाञ्जलि, साश्रुनयन स्तुति प्रारम्भ कर दी।

'भगवती! आप हम बच्चों को आशीर्वाद देकर अपने पतिदेवके धाम पधारें।' आर्यने सविनय प्रार्थना की।

उन देवीने स्तुति समाप्त करके आर्य की महर्षियों की—सब की वन्दनाकी और सबकी प्रदक्षिण करके वे गगनमें अदृश्य हो गयीं। महर्षिने हमें बताया कि अपने पतिदेव महर्षि गौतमके समीप वे तपोलोक चली गयी।

* * *

हम जनकपुर पहुँचे और महर्षि की आज्ञासे एक आम्रोपवनमें हमने विश्राम किया। स्वाभाविक था कि महाराज विदेह महर्षिके स्वागतार्थ पधारते, किन्तु तात! महाराजके साथ उनके कुल पुरोहित शतानन्दजी, विप्र वर्ग तो थे ही, प्रमुख नागरिक, अमात्यगण एवं सेना नायक भी थे। हमें अद्‌भुत लगा यह स्वागत। कदाचित महर्षि पहिले नरेश रह चुके हैं, यह स्मरण करके महाराज जनकने ब्रह्मर्षि एवं नरेश दोनोंके उपयुक्त स्वागत का यह स्वरूप निश्चित किया था।

महर्षि प्रसन्न हुये थे स्वागतके स्वरूप से। उन्होंने पीछे कहा था—'अनजानमें ही जनकने मेरे सङ्ग आये अवध राजकुमारोंके स्वागत का कर्तव्य पूर्ण किया।'

पता नहीं कैसे—देवी अहिल्याके शापनिर्मुक्त होने की चर्चा हमसे पहिले ही मिथिला पहुँच चुकी थी। हम दोनों भाइयोंने जब मुनि शतानन्द-जी के चरणोंमें प्रणिपात किया—हमें हृदयसे लगाये वे देर तक अपने अश्रुओंसे हमारी अलकें आर्द्र करते रहे।

'रामभद्र! तुमने मेरी जननीका उद्धार किया है।' गद्‌गद् कण्ठ शतानन्द जी कह रहे थे—'तुम स्वयं पूर्ण हो। मैं तुम्हारी किसी सेवाके योग्य नहीं।'

'हम आपके आशीर्वादाकांक्षी शिशु हैं।' आर्यको संकोच हो—स्वाभाविक था।

आग्रह पूर्वक महाराज जनक महर्षिके साथ पूरे समुदाय को नगरमें ले गये एवं राजोद्यानके सुमनोहर सौधमें उन्होंने हमें आवास दिया।

* * *

हमने प्रथम दिन ही तृतीया-प्रहरमें नगर देखा। मेरी उत्सुकता समझकर आर्यने अनुमति प्राप्त कर ली थी महर्षिसे। मिथिला-निवासियों का सौहार्द्र-स्नेह हमें उसी समथ प्राप्त हो गया था और उसी समय हमने स्वयम्वर सभा तथा पिनाक को भी देख लिया था।

सबसे उत्तम क्षण तो वह था जब हम महर्षिके देवाराधनके लिए राजकीय पुष्प वाटिकामें सुमन-चयन करने पहुँचे थे। माताकी आज्ञासे भगवती गौरीका पूजन करके अपनी सहेलियोंके साथ श्री विदेह नन्दिनी वहाँ पधारी थीं। वहीं मुझे उनके कमलारुण श्री चरणों का दर्शन हुआ था। मुझे अब ज्ञात हुआ है कि उनकी तीनों बहिनें भी उनके साथ ही थीं उस समय; किन्तु मेरे नेत्र तो उनके पाद पल्लवों पर गये और वहीं रह गये। मैंने उस दिन किसी को देखा नहीं। उसी दिनसे हृदयने उन चरणों मातृ चरणोंके समान वन्दनीय स्वीकार कर लिया।

आर्यने उनका परिचय दिया। उन्होंने अपने आकर्षण की चर्चा भी की थी। अपनी नित्य सँगिनी की ओर उनका चित्त वहीं आकर्षित हो गया था और मैं उल्लसित हो उठा था। आर्यके चित्तमें कोई संकल्प उठे—उसे पूर्ण होनेसे रोक कोई कैसे सकता है। हम जब पुष्प लेकर लौटे—महर्षिने आशीर्वाद दिया था—'सफल काम हो वत्स!' महर्षिका आशीर्वाद मोघ हो जाय—सृष्टि बनी रहेगी दो क्षण भी?

* * *

स्वयम्वर-सभा अथवा धनुर्मख-शाला तो तुमने देखी ही है तात! पितृ चरण उसे देख सकें, इसलिये महाराज जनकने उसकी साज-सज्जा ज्यों की त्यों रखी थी।

हम जब उस सभा-भवनमें पहुँचे, सहस्रबाहु बाणासुर तथा लंकेश दशानन वहाँसे प्रस्थान कर चुके थे। उन दोनोंने धनुषं का स्पर्श भी नहीं किया था। असफल होने पर उपहास होगा, इस आशंकासे—'यह हमारे आराध्य का धनुष है। हम इसे भग्न नहीं कर सकते।' यह कह कर पिनाक को प्रणाम करके चुपचाप वे चले गये।

महर्षिके साथ की समस्त मुनि मण्डली एवं हम दोनों भाई एक ही सुविस्तृत मञ्च पर बैठे। महाराज जनकके सेवकों की प्रशंसा करनी होगी—सभी को समुचित स्थान प्राप्त हुआ था।

करोंमें जयमाल लिये राजकन्या सखियोंसे घिरी सभा भवनमें पधारीं और मैथिल नरेशके बन्दियोंने उनकी प्रतिज्ञा उच्च स्वरसे घोषितकी। पूरे सभा भवनमें कोलाहल व्याप्त होगया। कोई उठा, किसीने कटि वस्त्र कसा और कोई गर्वमें भरा झूमता चला धनुषकी ओर।

तात! मैं अपना हास्य कठिनाईसे रोक रहा था। वे वीरमानी नरेश—धनुष उठाना तो दूर, हिलता तक नहीं था उनसे। अनेक उनमेंसे लुढ़क पड़े पिनाक उठानेके प्रयत्नोंमें। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये। बहुतोंने सामूहिक रूपमें भी धनुषको उठानेका प्रयत्न किया।

जो कोलाहल हुआ था—मन्द होने लगा और शान्त हो गया। मुहूर्त—दो मुहूर्तमें मञ्चों पर श्वेद क्लान्त, श्रीहीन, नमित वदन नरेशोंको देखकर खेद होता था। उनका उल्लास, ओज, गर्व—धनुषने जैसे सब चूस लिया था। कुछ विवेकी भी थे उस सभामें। वे विचारवान उठे ही नहीं थे अपने आसनोंसे। कान्ति केवल उनके मुखों पर रह गयी थी।

महाराज जनक यह अवस्था देखकर उठे। उनका खेद स्वाभाविक था। उन्होंने नरेशोंको धिक्कारा, लौट जानेको कहा—'दूसरी बात वे कर भी क्या सकते थे; किन्तु वे आवेशमें कह गये—'धरित्री शूर शून्य हो गयी।' आर्यकी उपस्थितिमें कोई ऐसी चुनौती दे—रघुकुलका कुमार यह कैसे सह सकता था तात! मैंने चुनौतीका उत्तर दिया—आवेश मेरा भी स्वाभाविक था; किन्तु आर्य आदेश देते तो मैं पिनाकको वाम कर पर उठाये अयोध्या तक दौड़ा आ सकता था और पटक देता यहाँ लाकर, किन्तु आर्यने मुझे शान्त रहनेका संकेत करके बैठा लिया।

महर्षिने अब आर्यको आदेश दिया और वे उठे। मुनि वृन्दको मस्तक झुकाकर वे सहज भावसे चले। पिनाक तक वे गये, एक क्षण उसे देखा स्थिर दृष्टिसे। इसके पश्चात् वह स्फूर्ति आर्यकी मैंने भी उसी क्षण देखी। उन्होंने कब झुककर धनुष उठाया, कब ज्या चढ़ाई और कब उसे खींचकर तोड़ दिया—चमत्कार हो गया। एक भयानक दिगन्तव्यापी शब्द हुआ, नेत्र पलक झपके और देखा तो सस्मित वदन आर्य स्थिर खड़े हैं। पिनाकके भग्नखण्ड भूमि पर पड़े हैं उनके द्वारा क्षिप्त।

जय ध्वनि, मङ्गल वाद्यके तुमुल नादके मध्य भगवती भूमिजा पधारीं और उनके करोंकी वर मालाने आर्यका कण्ठ भूषित कर दिया।

※ ❀ ❀

वासना एवं गर्व अन्धा कर देता है मनुष्योंको। ऐसे पर्याप्त मूर्ख थे उस राज सभामें जो पिनाकसे पराजित अब प्रलाप करने लगे थे। वे धृष्ट परस्पर कहने लगे थे—अवध राजकुमारोंको बन्दी करलो। राजकुमारीको बलात् ले चलो ! जनक सहायता करे तो उसे मार दो।'

बड़ा क्रोध आ रहा था मुझे। श्रीविदेह नन्दिनी लौट चुकी थीं अपनी माताके समीप और आर्य हमारी ओर आ रहे थे। दुष्ट राजाओंका दैव दक्षिण था उस दिन वे कोई उत्पात करें—इसके पूर्व महर्षि परशुराम वहाँ पहुँच गये,अन्यथा सिद्धाश्रममें राक्षसोंकी सम्पूर्ण सैन्यको क्षणार्धमें माँसखण्ड कर देने वाला शर मेरे त्रोणमें था और मुझे बार-बार उस दिव्यास्त्रके मन्त्र स्मरण आ रहे थे।

कन्धों पर दो धनुष, दो त्रोण, दो विशाल परशु, भव्यभाल—मुझे प्रथम दृष्टिमें भार्गव बहुत रुचे। उनकी तेजस्विता—त्रिलोक ख्यात है। वे आये और पूरी राजसभा निस्तब्ध हो गयी। आतङ्क व्याप्त होगया सर्वत्र।

राजन्य वर्ग सगोत्र पिताके नामके साथ अपना नाम ले लेकर प्रणिपात कर रहा था; किन्तु भार्गव थे कि किसीकी ओर कदाचित् ही दृष्टिपात करते थे। उनके नेत्रोंमें उद्दाम रोष तथा मुख पर विचित्र व्यग्रताके भाव थे। पता नहीं क्यों उन्होंने अपनेको इतना अशान्त बना रखा था। दूसरोंके लिए आतङ्क बनकर कोई शान्ति पाता भी कैसे।

महाराज जनकको उन्होंने कुछ नहीं कहा प्रथम दृष्टिमें। पिताके आदेशसे भगवती भूमिजाने उनके पदोंमें मस्तक झुकाया तो उन्होंने जैसे तटस्थ भावसे आशीर्वाद दे दिया। केवल महर्षि विश्वामित्रजी जब उनसे मिले तो उनमें सामान्य शिष्टता व्यक्त हुई और हम दोनोंके पद-वन्दन करने पर उनके श्रीमुखसे स्निग्ध स्वर आया—'कुशली भव।'

एक क्षणमें वे फिर उग्र हो उठे। पिनाकके खण्डोंको देखकर उनके नेत्र अङ्गार हो गये और जैसे वे प्रलाप करते हों—गर्जन करने लगे—'मूर्ख जनक ! किसने तोड़ा यह भगवान विश्वनाथका धनुष ? मैं आज उसका मस्तक परशुसे छिन्न कर दूँगा। तेरा पूरा राज्य सीमा तक भूमि—उलट दूँगा, यदि शीघ्र उसका नाम नहीं सूचित करता। ये सब नरेश मारे

जायेंगे, अन्यथा उसे अपनेसे तत्काल पृथक करें, जिसने पिनाककी अवमाननाकी है।'

मेरा रक्त खौल गया—भार्गव चाहे जितने महान हों, उन्हें इस प्रकार सबका अपमान करनेका अधिकार तो नहीं है। वे ही तो अकेले शूर नहीं इस भूमण्डल पर। मैं कुछ कहता, इससे पूर्व आर्य आगे बढ़ गये। आर्यका शील—वे बद्धाञ्जलि नम्रतापूर्वक भार्गवकी विनय कर रहे थे—'आपके किसी सेवकसे यह अपराध हो गया।'

भार्गव परशुराम—वे उस समय विनय सुनते? उनका क्रोध उद्दीप्त ही होता जा रहा था। मुझे रोष भी आता था, हँसी भी आती थी उनके उन्मत्त भावको देखकर और यह देखकर कि समस्त राजन्य वर्ग तथा महाराज जनक भी अपने परिकरोंके सहित स्तब्ध हो रहे हैं, सबके मुख श्री हीन, भयपीताभ हो गये हैं, सब जैसे काँप रहे हैं, यह अकारण भय—भार्गव कोई अन्तक तो नहीं और हों यमराज, वे किसीको दो बार तो नहीं मारेंगे।

मुझे आर्यका सङ्कोच हो रहा था। सहन नहीं हुआ तो मैंने थोड़ेसे व्यङ्गमात्र किये; किन्तु आर्यने दृष्टि कठोर करके मुझे मौनकर दिया। भार्गव क्रोधोन्मत्त होकर, परशु उठाये, चरण पटक-पटक कर प्रलाप कर रहे थे—बार-बार ललकार रहे थे—'युद्ध कर! युद्ध दे।' वे विप्र न होते—आर्यने संकेतसे मना न किया होता……।

वे तो आर्यकी निरन्तर विनय सुनते-सुनते उन पर भी रुष्ट हो गये। उनको ही युद्धके लिए चुनौती देने लगे। अन्ततः विनम्र शब्दोंमें आर्यको भी कहना पड़ा—'भगवान्! रघुवंशका बालक यमराजका भी युद्धाह्वान सहता नहीं। मृत्यु हमें भीत करनेमें समर्थ नहीं; किन्तु हमारे कुलने ब्राह्मण, गौ एवं सुरोंके सम्मुख शस्त्र नहीं उठाया। सदा मस्तक झुकाया है। आप द्विज श्रेष्ठ हैं, अतः कृपा या क्रोध जो उचित लगे……।'

'राम! तुम कौन हो? परम पुरुष……' सहसा भार्गव कुछ कहते-कहते रुक गये और अपने स्कन्धसे उन्होंने एक दिव्य धनुष—अपने दोनों धनुषोंमें उत्तम धनुष उठाया। वही धनुष अब आर्यके स्कन्धको भूषित करता है—'यह भगवान नारायणका शार्ङ्ग है। इसे ज्या सज्ज करो तो!'

आर्यने धनुष लिया। सहज भावसे ज्या सज्ज किया। इतनेमें तो भार्गव दूसरे हो गये। उनका क्रोध, उनके अङ्गार नेत्र, उनका प्रलाप एवं

पाद क्षेप—वे तो नम्रताकी मूर्ति हो चुके थे। सचमुच वे महर्षि लगने लगे थे और वद्धाञ्जलि, साश्रुनेत्र आर्यके साथ मेरी भी स्तुति कर रहे थे—क्षमा-याचना कर रहे थे।

भार्गवने सनुमति ली आर्यसे और वनकी ओर चले गये। वे सहज असङ्ग—किसी अन्यसे विदा लेना भी उन्हें आवश्यक नहीं लगा। उनके चले जाने पर हमारा ध्यान गया नरेशोंकी ओर। उनमेंसे अधिकांश पता नहीं कब पलायन कर गये थे। थोड़े गिने चुने ही सिंहासन थे जो रिक्त नहीं थे।

हमारे सम्मुख ही महर्षिकी अनुमतिसे महाराज विदेहने अवध दूत भेजे थे पितृ चरणोंको आमन्त्रित करने। उसके पश्चात् तो हमारे क्षण स्वजनोंके मिलनकी उत्कट प्रतीक्षामें ही व्यतीत हुए।'

———

१२—ननिहाल

अपने सहोदर अग्रजसे श्रीरघुनाथके चरित सुनते हमारे दिवस कब कैसे व्यतीत हो जाते थे—हमें पता ही नहीं लगता था।

हम रात्रिके चतुर्थ प्रहरके प्रारम्भमें तो उठनेके अभ्यस्त अपने उपनयन संस्कारके पूर्वसे ही हो चुके थे; अब लगभग मध्यरात्रिमें जब पितृ चरण पुराण-कथा श्रवण समाप्त करके उठते, उनकी चरण वन्दना करके हम भी शयन करने जाते।

बड़े आनन्दसे हमारा समय निकला जा रहा था। इतनेमें कैकयसे राज सन्देश आया। मातामह कैकय नरेश महाराज अश्वपति चाहते थे कि हम चारों ही भाई कुछ काल उनके यहाँ निवास करके उन्हें सुखी करें; किन्तु यदि यह किसी प्रकार कठिन हो तो श्रीभरतलाल एवं मैं अवश्य आऊँ उनके समीप।

पितृ चरणोंने दूतका सत्कार किया। माता कैकयी अपने पितृकुलके उपहार प्राप्त कर उल्लसित हों—स्वाभाविक था। उन्होंने ही प्रस्ताव किया—'वत्स रामभद्र लक्ष्मणके साथ अभी पर्याप्त समय अवधसे बाहर रहे हैं। ये दोनों बालक महर्षिके साथ बहुत भटके हैं वनोंमें। इन्हें अभी विश्राम करना चाहिए।'

हमारे विवाहको पर्याप्त समय हो चुका था, किन्तु मुझे भी ऐसा ही लगता था कि सानुज श्रीरघुनाथ अभी ही तो दीर्घकालके प्रवासके पश्चात् मिले हैं। सम्भवतः माताकी अनभूति भी ऐसी ही होगी।

पितृ चरण छोटी माताके प्रस्तावका सदा ही अनुमोदन करनेके अभ्यासी हैं। उन्होंने कहा—'चारों कुमार अवधसे चले जायँ तो अयोध्या सूनी ही हो जायगी। राज सदनमें मेरा मन लगेगा ही नहीं। महर्षिके शापका भयानक भय न होता—श्रीराम-लक्ष्मणको मैं भेजने वाला था? कैकय नरेशको कहला दिया जाय, वे इस समय क्षमा करें। कुमार अभी बालक हैं। कुछ अधिक वयस्क होने पर वे मातामहके दर्शन करेंगे।'

पितृ चरणोंका यह प्रस्ताव माताको प्रिय नहीं लगा। अपने पिताकी रुचिका सम्मान उन्हें अभीष्ट था। उन्होंने आग्रह किया—'मेरे पिताने स्नेह पूर्वक बुलाया है। उसके यहाँ भरत-शत्रुघ्न कुछ काल रह आवें, इसमें उनकी भी प्रसन्नता होगी एवं कुमारोंको भी नवीन अनुभव प्राप्त होंगे। मेरे भाई युधाजितका सामीप्य उन्हें राज कार्यमें दक्ष ही करेगा।'

अन्ततः माताका आग्रह पितृ चरणोंने स्वीकार कर लिया। हम दोनों भाई गुरुजनोंसे, माताओंसे अपने भाईयोंसे, सखा-सुहृदोंसे मिलकर, सबसे समुचित विदा लेकर रथमें बैठे प्रातःकाल और कैकय देश[1] को प्रस्थान किया हमने।

पितृ चरणोंने मार्गमें हमारे विश्रामकी उत्तम व्यवस्था कर दी थी। राजसेवकोंके रथ आगे चलते थे हमारे आवासकी व्यवस्था करने। हमारे साथ मातामह, मातुल एवं कैकयके अन्य सम्बन्धियोंके लिए बहुमूल्य उपहार भेजे थे अयोध्यासे।

मार्गमें हमारा पर्याप्त सत्कार हुआ। अवधके चक्रवर्ती महाराजके कुमारोंके स्वागतका सुअवसर मार्गका कोई नरेश या सामन्त भला कैसे छोड़ देता। हमारे अग्रचारी सेवकोंको स्मरण नहीं कि कहीं कोई व्यवस्था करनी पड़ी हो। इसी प्रकार जो सैनिक हमारे साथ रक्षाके लिए थे, वे भी सम्मान या शोभाके ही हेतु थे। सुरासुर किसमें साहस था जो अयोध्याको शत्रु बनाकर विनाशको आमन्त्रण देता।

---

१. कुछ अन्वेषकजो आधुनिक विचारधाराके हैं—पंजाबके एक भागको कैकय देश मानते हैं। दूसरे प्रकारकी विचारधाराके कुछ लोग 'काकेशिया' काकेशसपर्वतके पासके देशको कैकय देश बताते हैं। स्मरणीय है कि 'काकेशिया' की कन्यायें योरोपमें सबसे सुन्दर मानी जाती हैं।

मातुल कैकयकी सीमा पर स्वागत करने हमें उपस्थित मिले। सचमुच वे सच्चे अर्थोंमें राजनीतिके तत्वज्ञ हैं। उनके चरोंकी व्यवस्था चकित कर देने वाली है। हमने अवधसे प्रस्थान किया और उन्हें सम्वाद प्राप्त हो गया।

हमारा जो स्नेहपूर्ण स्वागत हुआ—सुभद्र, तुम सहज अनुमान कर सकते हो उसका। मातुल युधाजित सीमासे हमें साथ लेकर गये और वे महान्—प्रख्यात कीर्ति मातामह—बन्दनीय भी पुरद्वार तक स्वतः पधारे थे।

मातामहीको जब हमने अभिवादन किया अन्तःपुरमें जाकर, उन ममता एवं स्नेहकी प्रतिमाने हमें अङ्कमें खींच लिया और अपने अश्रुओंसे आर्द्र कर दिया।

हमने अवधके उपहार अर्पित किये मातामहके श्रीचरणोंमें और वे सादर सत्कृत हुए। मातामहने स्वयं हमारी सम्पूर्ण व्यस्थाका निरीक्षण किया। मातुलको उन्होंने आज्ञा दे दी—'जब तक दोनों कुमार यहाँ हैं, इनके साथ रहकर इनकी सुव्यवस्था एवं इनकी प्रसन्नता—सम्पादनका विशेष प्रयत्न करना है तुम्हें।'

अन्तःपुरमें हमारे प्रति जितना स्नेह, उल्लास था, नगरमें उससे अल्प नहीं था। हम कैकयके अतिथि थे और प्रत्येक कैकय नागरिक यही प्रयत्न करता था कि हम उसकी कोई न कोई सेवा स्वीकार करलें। हम नगरमें जिधर निकल जाते—नागरिकोंके समुदाय हमें करोमें उपहार लिए पंक्तिबद्ध प्रस्तुत मिलते। भवनोंसे कुसुम-लाजादिकी वर्षा होती रहती।

मातुल प्रतिदिन नवीन विनोदकी व्यवस्था करते रहते थे। नगर-भ्रमण, उद्यान-पर्वतादि पर्यटन, आखेट, जल-क्रीड़ा—कैकय प्रकृतिके अनुपम वरदानोंका प्रदेश है। मातुलकी व्यवस्थाने उसे अत्यधिक सुरम्य बना दिया। हमारे लिए नाना स्थानों पर उन्होंने नाना प्रकारकी क्रीड़ा योजनायें पहिलेसे कर रखी थीं तथा नगरमें भी उनके आयोजनका अभाव नहीं था।

मातुलने हमें अपनी शासन-व्यवस्था में भाग लेनेका उदारतापूर्वक अवसर दिया। वे चाहतेथे कि हम केवल सैद्धान्तिकही नहीं, व्यवहारिक रूपमें दक्ष राजनीतिज्ञ होकर अवध लौटें; किन्तु सुभद्र ! अयोध्या को कूटनीति कभी प्रिय नहीं रही। हमारे कुलने सदा धर्म के सीधे सरल मार्ग एवं अपने शौर्य पर विश्वास किया है। अनेक बार मातुलसे हमारा मतभेद

होता था, उनकी राजनीतिको लेकर। हमें उनकी बुद्धिके साथ उनकी सहनशीलता की प्रशंसा करनी पड़ी है। न वे कभी कटु बने और न उन्होंने कभी भूलकर भी व्यङ्ग किया। हम उनकी नीति पर जहाँ आक्षेप करते, वे हँसकर टाल जाते थे। राजनीतिमें हमें धूर्तताकी गन्ध आती थी, जिससे हमारी सहज अरुचि है।

मातुलकी राजनीतिमें हम दोनों भाइयोंकी कोई रुचि नहीं थी। इतने पर भी वहाँका ममत्व, वहाँका स्नेह, वहाँका नित्य नूतन सत्कार—किन्तु सुभद्र! श्रीरघुनाथके सामीप्यका अभाव हमारे सम्पूर्ण उत्साह—उल्लास पर तुषारकी भाँति जम गया था। प्रत्येक आमोदमें हमें श्रीअवध में छूटे अपने दोनों भाइयोंकी स्मृति आती थी और हमारे प्राण उनसे मिलने के लिये छटपटा उठते थे।

* * *

नियतिके विधान अत्यन्त निष्ठुर हैं सुभद्र! हम यदि मातामह महाराज अश्वपतिके आमन्त्रण पर न आये होते—तनिक भी उत्साह तो नहीं था चित्तमें अवधसे आते समय। हमने प्रस्थानके समय होने वाले अपशकुनों पर ध्यान ही नहीं दिया था—क्रूरदैव! हम जब चले थे मार्जारी हमारे रथके सम्मुखसे निकल गयी थी। काकने वामभागमें कठोर स्वर किया था। इसी प्रकार अन्य अपशकुनों ने भी वारित किया था हमें यात्रा करनेसे, किन्तु क्रूर दैव निष्ठुर परिहास कर रहा था।

हम दोनों भाई एक दिन अत्यन्त चिन्तित उठे। हम दोनोंने ही स्वप्न में भयानक अपशकुन देखे थे। पितृ चरण पदाति भाग रहे हैं और उन्मत्त गजराज उनका पीछा कर रहा है। श्रीरघुनाथ सानुज, भगवती भूमिजाके साथ कहीं घोर अरण्य में अलङ्कार हीन, रुक्षवन, जटा-वल्कल धारी वेश में चले जारहे हैं। अयोध्यापुरी प्रचण्ड दावाग्नि दग्ध हो रही है। ऐसे अनेक अशुभ सूचक स्वप्न……।

हम दोनोंने प्रायः एक जैसे स्वप्न देखे थे। प्रातः चरणवन्दन के समय मातामहीने हमारे कान्तिहीन मुखपर ध्यान दिया। उन ममतामयी ने अङ्कमें खींच लिया हमें। हमारे स्वप्न सुनकर वे भी व्याकुल होगईं। मातामह कैकय नरेश ने सुना उनके द्वारा और उन्होंने तत्काल कुल पुरोहित को सन्देश भेजा। अनिष्ट शान्तिके लिये इन द्विज श्रेष्ठने हवन कराया—इस प्रकार अनिष्ट शान्त हो जाया करते—किन्तु ऐसा कितना कम होता है।

मातुल युधाजित ने हम दोनों को प्रसन्न करने के अनेक प्रयत्न किये। उन्होंने अनेक विनोद के आयोजन किये। अपने उदार परिहासों से हमें हँसाने की चेष्टा की। हम भी क्या करते, कुछ अच्छा नहीं लगता था। कहीं चित्त रुचि नहीं मानता था। दिशायें सूनी-सूनी लगती थीं। हमें उस राज सदनके सङ्गीत-नृत्य, हास-परिहास में भी लगता था कि चारों ओर अनन्त विशाल मरुस्थल है—उत्तप्त मरुस्थल और प्रचण्ड पवन फूत्कार करता हमें अपना ग्रास बनाने बढ़ा आरहा है। उस मरुभूमिमें हम एकाकी पड़ गये हैं।

हमने स्नान-सन्ध्यादि नित्य कर्म किये। जल-पान उसदिन निम्बकटु प्रतीत हो रहा था। मध्यान्ह कृत्य एवं भोजन भी करना ही पड़ा किसी प्रकार दिनके तृतीय प्रहरकी समाप्ति भी नहीं हुई थी कि अवधसे चर आ पहुँचे।

सुभद्र! हमारे कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ एवं महामन्त्री सुमन्त्र से स्वप्न में भी प्रमादकी आशङ्का कोई नहीं कर सकता। उनके भेजे थे चर—उन चरोंसे कोई असावधानी अशक्य थी; किन्तु हमने देखा कि उनके रथोंके अश्व अत्यन्त श्रान्त हो चुके हैं! अवश्य वे अत्यन्त त्वरा पूर्वक आये हैं। मार्गमें आवश्यक विश्राम उन्होंने किया नहीं है।

अयोध्या से सदा की भाँति मातामह एवं मातुलादि के लिये बहुमूल्य उपहार आया था। वह उपहार चरों ने हमें दिया कैकेय नरेश को अर्पित करने के लिये और हमने अपना कर्तव्य यथावत् पूर्ण कर दिया।

स्वाभाविक था कि हम अवध का समाचार जानने को उत्सुक होते। हमने पितृ चरणों एवं भाइयों की कुशल पूछी। माताओं की प्रसन्नता ज्ञात करने को भी हम उत्सुक थे।

सुभद्र! धर्मकी गति बड़ी गूढ़ है। सदा स्पष्ट-सरल सत्य बोला जा सके, ऐसी परिस्थिति कहाँ रहती है। अवधके चर असत्य बोलेंगे, ऐसी आशा करना ही नहीं चाहिये।

'कुमार! आप जो कुछ जानना चाहते हैं, वह श्री अवध चलकर ही जानें। अयोध्यापुरी यथावत् है। हमें तो कुलगुरु एवं सम्मान्य अमात्यों ने भेजा है। आप दोनोंको वे श्रीअवध में यथाशीघ्र देखनेको अत्यन्त उत्सुक हैं। चरों ने हमारे प्रश्नों का कोई उत्तर दिया ही नहीं—'आप महाराज से अनुमति लें। हम भी रथोंके अश्व परिवर्तित करते हैं। आजही हम प्रस्थान कर दें।'

कुछ स्पष्ट नहीं होता था चरोंके शब्दोंसे । अधिक आग्रह निष्फल था; क्योंकि उन्होंने कह दिया—'हमको इससे अधिक विवरण देनेकी अनुमति नहीं है ।'

मातामह कैकय महाराज एवं मातुल नहीं चाहते थे कि हम प्रातःसे पूर्व प्रस्थान करें किन्तु हमारी दिनभर की आकुलताका स्मरण करके उन्होंने अनुमति देना ही उचित माना और हमारी तो दशा ही अद्भुत थी । यदि पङ्ख होते—पितृ चरणोंने इन्द्रसे कहकर कोई देव-विमान भिजवा दिया होता·······।

हमने मातामहीके चरणोंमें प्रणाम किया । मातुलानी की वन्दनाकी । सभी गुरुजनों एवं मित्रों से अनुमति ली । सबके सब साश्रुलोचन हो उठे थे । इस प्रकार हमारा अकस्मात् प्रयाण—जैसे सबके प्राण हमारे साहचर्य से अतृप्त ही रहे थे ।

मातुलानीने कहा भी—'पिपासु प्राणोंको जलपात्र प्रदान करके,उनकी पिपासा पूर्ण होनेसे पूर्वही अयोध्याके स्वामी बलात् पात्र हटाये ले रहे हैं । अच्छा राजकुमार, कभी स्मरण कर लेना और राजकार्य से अवकाश प्राप्त हो जाय कदाचित कभी तो कैकयको पुनः अपने चरणोंसे पवित्र करनेकी कृपा करना ।'

हमें पुनः पधारनेकी आकांक्षा सभीसे प्राप्त हुई । सीमान्त तक केवल मातुल ही नहीं, मातामह का रथ भी आया । यद्यपि हमने बहुत अनुरोध किया कि वे यह कष्ट न करें ।

मातामहने अमूल्य उपहारोंकी राशि अर्पितकी । उनको लेकर रथ एवं सैनिक हमारे पीछे आवेंगे, ऐसी व्यवस्था होगई थी ।

किसी प्रकार हम सबसे विदा हुए । जैसेही स्वजन-सम्बन्धी हमें विदा देकर रुके, हमारा रथ पूरे वेगमें उड़ चला; किन्तु मनकी उत्सुकता के साथ अश्व कैसे चल सकते हैं । हमें लगता था, अश्व अत्यन्त मन्द गति हैं एवं सूत भी उन्हें पूर्ण वेगसे चलाने में दक्ष नहीं है ।

मार्गमें हमने बहुत कम विश्राम किया । सातवें दिनतो हम श्रीअवध पहुँच गये थे । हमने मार्ग में चरों से अयोध्या का समाचार ज्ञात करने का प्रयत्न किया; किन्तु हमें एक ही उत्तर मिला—'उत्सुकता उपयुक्त नहीं है कुमार ! हम श्री अवध ही चल रहे हैं ।'

१३—वह अयोध्या !

'तुमने वृक्षों को, लताओं को, सरिता को, पृथ्वी और पाषाण को रुदन करते, शोकमान देखा है सुभद्र !' शत्रुघ्न कुमार का कण्ठ भर आया था। वे नेत्रोंसे गिरते विन्दु उत्तरीयसे मार्जित करनेके लिए एक क्षण रुके।

हमारे रथने श्री अवध की सीमामें प्रवेश किया और हम चौंके। लगता था, वायु उष्मा निःश्वाश है प्रकृतिका। तरुलता-विरुध तक परिम्लान रुदन करते प्रतीत हो रहे थे।

'अयोध्या ऐसी कैसे है ?' हमने सूतसे, चरसे पूछा, किन्तु उन्होंने मौन भङ्ग नहीं किया। उनके मौनके कारण हमारा आशङ्कित चित्त अत्यधिक आकुल हो उठा। हमारे अत्यधिक आग्रह पर चरने कहा— 'अर्धमुहूर्तमें रथ राज सदन पहुँच रहा है कुमार। कुछ अज्ञात नहीं रहेगा।'

अमरावती की श्री सम्पत्ति जिसके सम्मुख अत्यन्त तुच्छ थी, वह अयोध्या—क्या हो गया है हमारी इस दिव्यपुरी को—बार-बार हृदय हाहाकार करके पूछता था, किन्तु उत्तर कहाँ था।

परम पावन सरयू—हमें प्रतीत हुआ कि सरयू का स्वभाव स्वच्छ सलिल आविल हो रहा है। उसमें आज जल नहीं, निखिल प्रकृति का रोदनाश्रु प्रवाहित हो रहा है। सुनसान पड़े थे सरयूके नित्य जनाकीर्ण घाट।

अयोध्याके पार्श्वमें चतुर्दिक मुनि आश्रम हैं। उनसे न यज्ञीय धूम उठता हमें दीख पड़ा और न श्रुतियोंके स्वर सुनायी पड़े। हमने एक भी अन्तेवासी को वनमें फल, पुष्प, समित, कुशादि आहरण करते नहीं देखा।

सरयूके तटों को शून्य देखकर हमारी आशङ्का अत्यधिक तीव्र हो उठी। कुछ हुआ है—अवश्य कुछ ऐसा हुआ है, कोई महान अनर्थ हुआ है कि उसके कारण उत्सवमयी अयोध्या आज शोकार्त है।

शरत् कालमें सुनिर्मल सलिल सरोवर प्रफुल्ल पद्मराशिसे परिपूर्ण हो और अकस्मात् रात्रिमें प्रबल-तुषार ताड़ित कर जाय उसे। प्रातः काल श्री हत, कृष्णवर्ण, जले झुलसे से कमलोंसे जैसा सरोवर होता है—अयोध्या हमें उसी प्रकार शोकाहत प्रतीत हुई।

देवालयोंमें न शंखनाद हो रहा था, न घण्टा एवं भेरी ध्वनि। स्तवन, गान, बाद्यसे नित्य कोलाहलमयी रहने वाली हमारी पुरी सम्पूर्ण निस्तब्ध हो रही थी जैसे वायु भी वहाँ पादक्षेप करते भीत हो रहा हो।

हमें नगर पार्श्वमें पहुँचते ही नागरिक मिलने लगे। क्या हो गया है सबको ? सुरोंकी श्री जिनकी चरण-वन्दना करे, वे श्री हीन, प्राय: अना-मरण, खिन्नवदन, भरित नेत्र ! कोई अवसर नहीं देता कि हम कुछ पूछें। लोग बद्धाञ्जलि मस्तक झुकाते हैं और एक ओर चल देते हैं। जैसे वे हमारे निकट आनेमें भयभीत होते हों।

हमारे रथने नगर द्वारमें प्रवेश किया। हम स्वयं त्वरा कर रहे थे राज सदन पहुँचनेके लिये। अत: इस समय नागरिकोंके व्यवहारकी ओर हमारा लक्ष्य नहीं था। उनसे रथ रोक कर कुछ पूछने की स्वयं हमारी मानसिक स्थिति नहीं थी।

'कोई बहुत बड़ा अनिष्ट हुआ है कुमार !' श्री भरतलाल जी ने मेरी ओर देखा रथके नगर द्वारमें प्रवेश करते समय। उत्तर देने जैसी स्थिति मेरी नहीं थी।

नगर द्वार पर तो तोरण नहीं है, गृह द्वारों पर भी न तोरण हैं, न मङ्गल कलश हैं—न प्रदीप हैं। किसीने भी द्वारके सम्मुख 'रांगूली' से अर्चना नहीं की है। मङ्गल चित्र नहीं बनाये हैं। गवाक्षोंमें एकसे भी तो हमें अगुरु का सुरभित धूम निकलता दृष्टि पड़ता। एक भी भवनसे तो मङ्गल गीतके स्वर हमारे श्रवणों को सान्त्वना देते उठते।

जो कभी सोचा नहीं था, वह देखना पड़ रहा था हमें। द्वारों परके पल्लव तोरण एवं पुष्पमाल्य शुष्क पड़े थे। उन्हें कई दिनोंसे किसीने परिवर्तित नहीं किया था। राज पथ म्लान हो रहा था। चतुष्पथ एवं विश्रामोपवन परिमार्जनके अभावमें देखे नहीं जाते थे।

पक्षी बहुत कम दृष्टि पड़े। जो पडे भी, वे कर्कश ध्वनि करते। पशुओंमें हमने जिसे देखा—वृषभ, गौ, अश्वादि, सबके सब नेत्रोंसे वारिधारा गिराते, शिथिल-गात्र, जहाँ जहाँ ठिठकेसे। उनमें न चलनेका उत्साह, न रोमन्थन की प्रवृत्ति।

हमारे कुछ मित्र मार्गमें मिले। हमने आशा की थी, वे दौड़ आवेंगे हमारे समीप ; किन्तु उन युवकोंके वदन भी हमें कान्ति हीन दृष्टि पड़े। हमें देखकर भी उनमें कोई उत्साह नहीं आया। पता नहीं कहाँसे उनमें

वृद्धोचित गाम्भीर्य आ गया था। वे भी बद्धाञ्जलि हमें मस्तक झुकाकर शीघ्रता पूर्वक एक ओर चले गये। यह बात तो पीछे हम समझ सके कि क्यों प्रत्येक हमसे बोलनेमें अरुचि रखता था। क्यों नागरिक एवं सखा भी हमसे दूर-दूर रहना चाहते थे।

राजसेवकों का व्यवहार भी असामान्य था। वे हमें देखकर दूरसे चलकर हमारे सम्मुख आते थे और मार्गके पार्श्वसे अभिवादन करके चुपचाप चले जाते थे। जैसे विवश होकर उन्हें अभिवादन करना पड़ रहा हो।

किसीके मुखपर हमने अपने आगमनसे उल्लास की रेखा आती नहीं देखी। किसीने हमारा स्वागत नहीं किया। एकने भी हमसे कुशल नहीं पूछी। केवल अभिवादन—शिष्टता मात्र थी उस अभिवादनमें।

सुभद्र! वही हम थे कि आखेटसे लौटते थे केवल कुछ घड़ी वनमें रह कर तो इस प्रकार नागरिक दौड़कर मिलते थे, मानों हम युगोंके पश्चात् आये हों। प्रत्येक कुशल प्रश्न करता। सखा हमें उत्फुल्ल अङ्कमाल देते और राज सदन तक साथ लगे चले चलते। नागरिक उपहार लिये खड़े होते तथा सौधों की सुमन लाजा वृष्टि पथ पर पाँवड़े बनती जाती; किन्तु आज एक दूर्वादल भी कहीं किसी गवाक्षसे नहीं गिरा। किसीने एक शब्द नहीं पूछा।

हमारा रथ नगरमें होता राज सदन पहुँचा। हम जैसे अयोध्याके अपरिचित अतिथि थे—इस प्रकार एकाकी रथ राजद्वारमें प्रविष्ट हुआ। हम रथसे उतरे और सूत तथा चर भी अभिवादन करके चले गये। उन्होंने भी हमारा साथ भवनके भीतर तक नहीं दिया।

* * *

इतना निस्तब्ध, इतना श्री हीन राज सदन—हमने इसकी कल्पना भी नहीं की थी। द्वार-रक्षिकायें मिली; किन्तु उन्होंने केवल मस्तक झुकाया और मार्ग दे दिया। हम दोनों भाइयोंमें साहस नहीं था किसीसे कुछ कहने का कुछ पूछने का और कोई हमसे एक शब्द बोल नहीं रहा था।

हमने एक दृष्टिमें ही देख लिया था कि राजसभामें पितृ चरण नहीं है। इस समय होना उन्हें राज सभामें ही चाहिए था; किन्तु राज सभाके द्वार पर तो एक भी रथ नहीं, एक भी गज झूमता नहीं। कोई सूत मागध बन्दी वहाँ उपस्थित नहीं। केवल द्वारपाल खड़ा है शून्य सभा भवनके द्वार

पर। दिनमें अवध की राज सभा जन हीन ! अवश्य कोई अतर्कित आपत्ति आयी है। पितृ चरण जब राज सभामें नहीं है, वे गुरुगृह गये हो सकते हैं, अथवा अन्तःपुरमें होंगे। अन्तःपुरमें उनके अधिक मिलनेकी सम्भावना छोटी माताके सदनमें ही रहती है।

हमें अधिक सोचना नहीं पड़ा। अन्तःपुरके द्वार पर ही माता कैकय के दर्शन हुए। अवधमें इस बार हमने एक प्रफुल्ल मुख प्रथम बार देखा था और वे माता थीं। उल्लास कहो, उत्साहातिरेक कहो—वे बिना किसी दासी को लिये स्वयं रत्नथालमें नीराजन दीप सजाये द्वार तक दौड़ आयी थीं, हमारा स्वागत करने।

माता का यह उल्लास, उनका यह स्वागत, किन्तु उनका यह वेश कैसा है ? उनको तो हमने कभी अनाभरण, मुक्त केशा, श्वेतवस्त्रा नहीं देखा था ! आशङ्कासे हमारा हृदय बैठा जाता था। उनके स्वागतने भी हमें कोई प्रसन्नता नहीं दी।

हमारे भाल पर कुंकुम तिलक लगा, अक्षत लगा और माताने हमारा नीराजन किया। हम दोनों को वे आग्रह पूर्वक अपने सदन ले चलीं।

'वत्स भरत ! तुम इतने खिन्न क्यों ? तुम्हारा मुख मैं कान्ति हीन क्यों देखती हूँ ?' माताने भवनमें पहुँचनेसे पूर्व ही पूछना प्रारम्भ कर दिया 'मेरे पिता जी एवं माता सकुशल तो हैं ? भैया युधाजित प्रसन्न हैं न ? कैकयमें सब प्रसन्न सानन्द हैं ? तुम्हारा स्वास्थ्य तो ठीक है ? किसीने तुम्हें कुछ कहा तो नहीं ?

श्री भरतजी ने बता दिया कि कैकयमें सब कुशल है। मातामह, मातामही, मातुलेयादि समस्त स्वजन एवं प्रजा सानन्द है। हमारा स्वास्थ्य भी ठीक है और हमें भला कोई कहेगा क्या ?

'हमारी खिन्नता का कारण और है। अवध एवं राज सदन को मैं इतना हतश्री क्यों देख रहा हूँ ?' आर्यने ही पूछा मातासे—'पितृ चरण कहाँ हैं ? वे आज राज सभामें क्यों नहीं पधारे ? मैं शीघ्र उनकी चरण-वन्दना करना चाहता हूँ।'

'वत्स !' माताके नेत्र आर्द्र हो गये। उन्होंने भरे कण्ठसे कहा—'तुम्हारे पितृ चरण अब दिव्यधाममें हैं।'

'तात !' कुमार शत्रुघ्न इस समय भी क्रन्दन कर उठे ! उन्होंने दोनों हाथों पर मस्तक रख लिया और नेत्र बिन्दु टप-टप गिरने लगे।

देवी श्रुतिकीर्तिके नेत्र भी वर्षा करने लगे थे। सुभद्रने आश्वासान दिया किसी प्रकार।

'सुभद्र ! वज्रपात भी इतना निष्ठुर नहीं हुआ करता। वह भी कम से कम एक बार क्रन्दन करने का अवसर देता है।—कुछ क्षणोंमें कुमार ने अपने को कुछ सम्हाल लिया—'पता नहीं माता उस दिन इतनी क्रूर कैसे हो गयी थीं। वे हमें उपदेश करने लगी थीं तत्काल कि हमें शोक नहीं करना चाहिये। हमारे पितृ चरण त्रिभुवन यशस्वी, परम प्रतापी, कृत काम हो चुके थे। वे शोक करने योग्य नहीं और हमारी कोई अधिक हानि नहीं हुई है। हम पिताके वात्सल्यसे सदाके लिये वञ्चित हो गये, इससे बड़ी हानि पता नहीं और क्या होती हमारी; किन्तु हानि तो उससे बड़ी—बहुत बड़ी हो चुकी थी सुभद्र !'

'हमने अन्तिम क्षण आपके श्री चरणोंके दर्शन कर लिए होते, आपने हमें आशीर्वाद दिया होता, हमारा कर श्रीरघुनाथके करोंमें देकर उन पर हमारा दायित्व सौंपा होता, हमें यों ही छोड़कर चले गये तात !' आर्य प्राङ्गण भूमिमें लुण्ठित हो रहे थे, क्रन्दन कर रहे थे और मेरे नेत्रोंके तो अश्रु भी सूख गये थे। मैं बैठा था—इतना ही स्मरण है मुझे। अपने नेत्र पलक भी गिरा सकूँ, इतनी शक्ति मुझमें रही नहीं थी। देखता था, सुनता था और फिर भी मूर्छित प्राय था।

'क्या हुआ था पितृ चरणों को ? आर्य कहाँ हैं ? वे क्यों दिखाई नहीं पड़ रहे हैं ?' क्रन्दन करते हुये ही मेरे उन महान अग्रजने पूछा।

'श्री रामको महाराजने चौदह वर्षके लिये बनवास दे दिया। लक्ष्मण और सीता भी गयी उनके साथ।' माता इस प्रकार कह रहीं थीं, जैसे श्री रघुनाथ उनके कोई थे ही नहीं। 'अपने ज्येष्ठ तनयका वियोग सहन नहीं कर सके महाराज, इसीसे उनका शरीर रहा नहीं।'

'आर्य को पिताने बनवास दिया ?' लगा कि उन्मत हो जायँगे श्री भरत जी—'क्या अपराध किया था उन मर्यादा पुरुषोत्तमने ? उन्होंने किसी प्रजाजन को त्रस्त किया ? किसी ऋषि मुनि का अपमान किया ? किसीका स्वत्वहरण किया ? किसी निरपराधका वध किया ? किसी नारीके प्रति विकार आया उनमें ? क्या त्रुटि हुई उनसे ?'

'रामभद्रने कोई अपराध नहीं किया था।' माता या दूसरा कोई भी श्रीरघुनाथमें कोई दोष दिखा सकता नहीं । जो नित्य निर्दोष हैं—शत्रुको भी उनमें दोष दिखानेका साहस कैसे हो सकता है।

'कौशल्या पता नहीं कबसे महाराजके कान भरनेमें लगी थीं । तुम दोनोंको मातामहके यहाँ भेजनेमें भी दुरभिसन्धि थी । महाराज अपनी सरलताके कारण कौशल्याके मतमें हो गये थे और श्रीराम उन्हें प्राणाधिक प्रिय थे यह तो राम-वियोगमें उनके प्राण त्यागसे सिद्ध हो गया । माताने अब अपने अन्तरका विष-वमन करना प्रारम्भ कर दिया था—'महाराजने चुपचाप श्रीरामका यौवराज्याभिषेक करनेकी सम्पूर्ण प्रस्तुति करली । यह तो कुशल कहो कि जिस दिन अभिषेक होना था, उससे पूर्व दिन ही मन्थराको पता लगा । वह बेचारी दौड़ी आयी मेरे समीप और उसीने पूरी दुरभिसन्धिका भेद खोला । मेरी तो बुद्धि ही कुण्ठित हो गयी । कुछ सूझता ही नहीं था कि क्या करूँ ; किन्तु वह कुब्जा दासी है बुद्धिमान, उसने स्मरण दिलाया कि देवासुर-संग्राममें जब महाराज देवेन्द्रकी सहायता करने गये थे और युद्धमें रथ नेमि टूटने पर मैंने वहाँ अपना हाथ लगाकर रथ ध्वस्त होनेसे बचा लिया था तो असुर जयी महाराजने मुझे दो वरदान देनेको कहा । वे वरदान मेरी थातोके रूपमें अब भी सुरक्षित हैं और उनको माँग लेनेका यही अवसर है ।'

'मुझमें न इतनी चतुरता है और न मैं सोच पाती ; किन्तु मन्थराने समझा दिया था भली प्रकार कि आज सर्वथा रूक्ष बने बिना कुशल नहीं ।' माता मन्थराको प्रशंसाके गीत गाये जा रही थीं—'उसीकी सम्मतिका परिणाम है कि अवधका चक्रवर्ती राज्य आज तेरा है । तू शोक छोड़दे और पिताका और्ध्वदैहिक कर्म सम्पन्न करके प्रजापालनका अपना कर्तव्य सम्हाल ।'

'तुमने क्या वरदान माँगे पितृ चरणोंसे ?' मैंने जीवनमें आर्य भरतका यह प्रथम रुष्ट स्वर सुना ।

'तुम्हारे लिए राज्य और रामको चौदह वर्षका बनवास' माताने उसी उत्साहसे कहा—'रामके यहाँ रहने पर अनेक बाधायें पड़तीं । प्रजा पता नहीं क्या करती और अमात्य, सभासद, नागरिक तथा कौन जाने कुलगुरु ही व्याघात बनते—अब लक्ष्मणके भी चले जानेसे कोई आशङ्काका कारण ही नहीं रहा है । तेरा राज्य मैंने निष्कण्टक कर दिया है ।

"केवल किञ्चित् त्रुटि रही है" आर्य भरतके नेत्र जल रहे थे, उन्हें इतने आवेशमें किसीने कभी नहीं देखा होगा—'मेरा गला और घोट दे, तब निष्कण्टक राज्य कर अयोध्याका । पिशाचिनी—श्रीरघुनाथको शत्रु देखने

वाली तू मानवी नहीं हो सकती। पतिका भक्षण करके उत्साह दर्शित करने वाली पापिष्ठे !'

शोक एवं क्रोधके वेगसे आर्यका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उन्होंने दो क्षण पश्चात् फिर उसी आवेशसे कहा—'दूर हो जा ! मुख मत दिखा मुझे ! हाय, मैं इस हत्यारिणीके उदरसे उत्पन्न हुआ ! हाय रे भरत।' दोनों हाथ मस्तक पर दे मारे आर्यने और सम्भवतः वे संज्ञा-शून्य हो गये।

मैं कह नहीं सकता सुभद्र ! मेरी क्या स्थिति थी। क्रोधसे हृदय भस्म हुआ जा रहा था ; किन्तु उठना तो दूर, मैं हिलने तकमें जैसे अक्षम होगया था। मूर्तिके समान निश्चल बैठा था मैं। इतनेमें मन्थरा आयी उस सौधमें। उसका उस दिनका शृङ्गार एवं उत्साह—उस कूबरीके अङ्ग-अङ्गमें रत्नाभरण लदे थे। द्वार परसे ही उसका जीर्ण बाँससा स्वर सुनायी पड़ा—'बधाई ! नवीन महाराजकी जय हो ! बधाई……।'

पता नहीं वह दुष्ट और क्या-क्या कहने वाली थी। पितृ चरणोंका शव अभी राज सदनमें ही था और वह बधाई देने दौड़ी आयी थी। पता नहीं मेरे शरीरमें कहाँसे शक्ति आगयी मैं उसी आवेशमें उठा और एक लात धरदी मैंने उसके कूबड़ पर।

'हाय ! हायरे भाग्य !' वह मुँहके बल गिरी चीत्कार कर रही थी—'जिनके साथ मैंने उपकार दिया, वे ही मुझे ठोकर मार रहे हैं।'

मुझमें अधिक सुननेकी शक्ति नहीं रही थी। उसके केश पकड़ कर मैं इधरसे उधर घसीटने लगा प्राङ्गणमें। क्रोधावेशके कारण उसपर आघात करनेकी चेष्टा भी नहीं चल रही थी।

मन्थराके आर्तनाद एवं मेरे क्रोधावेशने परम सहृय आर्यके हृदयको हिला दिया। उनकी चेतना लौट आयी और वे उठ खड़े हुए। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। उस समय भी उनका पूरा शरीर शोक कम्पित हो रहा था ; किन्तु वे बोले—'कुमार ! इसे छोड़ दो। यह कुत्सितदासी क्या कर लेती यदि पिशाचिनी स्वयं हत्या पर उतर न आती। यह तो तुच्छ है, उपेक्षणीया है।'

मैंने आर्यके मुखकी ओर देखा और मेरा कर शिथिल हो गया। मन्थराके केश छूट गये। मैं कितने भी आवेशमें होऊँ, अपने उन महान अग्रजका आदेश मेरे द्वारा अनुलंघित हो नहीं सकता।

'कैकेयी, सुन !' आर्य भरत इस प्रकार बोलेंगे, कोई सोच तक नहीं सकता था—'आजसे भरत तेरा कोई नहीं और भरतकी तू कोई नहीं होती। तेरी दुरभिसन्धि मैं व्यर्थ कर दूँगा । तेरी इच्छा केवल तुझे कलङ्कित करेगी। आर्य श्रीरामके चरणोंका सेवक भरत वनमें जायगा। अपने अग्रजके चरण पकड़ कर रोवेगा । आवश्यक हुआ तो जन्म भर वनवास करेगा ; किन्तु आर्यको अयोध्याके सिंहासन पर प्रतिष्ठित करके रहेगा।'

इस वज्र प्रतिज्ञाके पश्चात् आर्यने मेरी ओर देखा और तत्काल चल पड़े।

यह स्थान एकक्षण विरमित होने योग्य नहीं ।' यन्त्रकी भाँति मेरे पदोंने उनका अनुसरण किया।

* * *

मुझे पता नहीं था, हम कहाँ—जा रहे हैं, किन्तु आर्य सीधे चलते गये। हम सीधे माँ—माता कौशल्याके भवनमें पहुँचे । विषण्ण वदना, दीना माँ हमें दूरसे ही देखकर दौड़ी—'भरत ! भरत ! मेरा लाल !' किन्तु सुभद्र ! वे मध्यमें ही गिर पड़ीं मूर्छित होकर।

कुमार हिंचकियाँ लेकर रो उठे । देवी श्रुतिकीर्तिने अञ्चलमें मुख ढक लिया था और सिसक रही थीं। सुभद्रके नेत्र भी वर्षा करने लगे थे।

प्रफुल्ल कमल मुख पीत हो गया था माँका। शरीरका रक्त-माँस शोकने शोषित कर लिया था। वे अवधकी अधीश्वरी थीं—इतनी दीना।' किसी प्रकार कुमारने अपनेको आश्वस्त किया—'हम दोनों प्रायः साथ दौड़े और माँके अङ्कमें गिर गये।'

'कुमार ! लाल मेरे !' सुभद्र जब मेरी चेतना लौटी, माँ मुझे अङ्कमें लिटाये थीं। उनके नेत्र बिन्दु टपाटप मेरे मस्तक पर गिर रहे थे और उनके कर आतुरतापूर्वक मेरे मस्तक एवं कपोलों पर घूम रहे थे।

आर्यको भी माँने अङ्कमें बैठा रखा है, यह मैंने देख लिया । कुछ क्षण—कुछ क्षण ही तो व्यतीत हुए थे—घटी सही, किन्तु इतने अल्पकालमें ही आर्यका तेजोमय मुख शुष्कपत्र पीत हो चुका था । लगता था, शरीरमें रक्त रहा ही नहीं है। मैं उठने लगा तो माँने मुझे अङ्कमें ही बैठा लिया।

'माँ कुपुत्र निकला तेरा भरत ! इस अधमके कारण तुझ लोकपूज्याकी यह अवस्था हुई—अभागा भरत ।' आर्य क्रन्दन करते, हिचकियाँ लेते

कह रहे थे—'किन्तु माँ ! मुझे किञ्चित् पता हो, श्री रघुनाथ को वन भेजने की कुटिल दुरभि सन्धि की गन्ध भी मुझे हो—जगदात्मा साक्षी हैं, शतशत कल्प महारौरव की ज्वाला पचाती रहे भरत...........।'

'क्या बकता है तू, माँने आर्यके मुख पर हाथ रख दिया—'मेरे भरतमें कोई कौटिल्य है, ऐसा सोचने वाले को यमराज क्षमा नहीं करेगा। अपने अन्तिम क्षणोंमें महाराजने कई बार कहा—'भरत कैकयीके उदरसे उत्पन्न ही हुआ है; किन्तु वह कमल है उस कीच का। रघुवंश को उज्वल करने वाला प्रदीप है वह ! उसका ध्यान रखना। मेरे लाल ! रामभद्र और तुझमें जो भेद करे, अधम अज्ञ होगा वह।'

चलता रहा—चलता रहा हम माता-पुत्रों का यह शोककातर प्रसंग और रजनी व्यतीत हो गयी। रात्रि प्रारम्भ कब हुई थी—हम यह जान ही नहीं सके थे।

—०—

१४–पितृपाद

प्रातः काल हुआ। हमारे कुलगुरु महर्षि वशिष्ठजी अन्य महर्षियोंके साथ राज सदन पधारे। जब जब आपत्ति आयी, वे महत्तम ही रघुवंशके कर्णधार बने। इस समय तो उनके अतिरिक्त और कोई आश्रम ही नहीं था अयोध्या का।

महर्षिके असीम अनुग्रह का रघुवंश सदा अनुभव करता रहा है। उन्होंने महामात्य सुमन्त्रको आदेश दे दिया था आज की समस्त व्यवस्था करने का।

कुलगुरुके पधारने पर जो क्रन्दन राजसदनमें गूँजा—निस्तब्ध अमा-निशामें जिस तरु पर सहस्रशः पक्षि समुदाय आवास बनाये हो, उसी पर सहसा वज्रपात हो जाय........

महर्षिने सबको सान्त्वना दी। अपने अतिमानव ज्ञानसे सबको धैर्य नेरख को प्रेरित किया। सचमुच सुभद्र ! तात चरण शोक करने योग्य कहाँ

थे। अमरावतीके अधिपति आगे आते थे उनका स्वागत करने और इन्द्रासन पर उनके बैठ जाने पर स्वयं वामपार्श्वमें बैठते थे। त्रिलोक जयी रावणमें भी साहस नहीं था अयोध्या की ओर देखने का। अर्थ, धर्म, काम, यश, ऐश्वर्य—सामान्य मानव जिसकी कल्पना भी न कर सके, उस विभूतिने उनके चरणोंका स्पर्श पाकर अपने को धन्य माना। स्वयं परात्पर पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम उनके पुत्र बने। जीवनमें कुछ प्राप्तव्य कहाँ रहा था उनके लिये और जिनका नाम अन्तिम क्षण मुखमें आनेसे मानव परम पद पा जाता है, उनके वियोगमें जिन्होंने शरीर छोड़ा—यह मरण किसका स्पृहणीय नहीं होगा ? अपने महत्तम पिताके लिए हम क्यों शोक करें।

'तात भरत !' महर्षिने समयोचित उपदेश करनेके उपरांत आदेश दिया—'शोकको संयमित करो और उठो। जो कर्तव्य तुम पर आ पड़ा है, उसे पूरा करो। तुम्हारे पिता की पवित्र देह प्रतीक्षा कर रही है कि तुम्हारे कर उसे भगवान हव्यवाह को अर्पित करें।'

आर्यने नेत्र उत्तरीयसे मार्जित कर लिये। एक क्षणमें जैसे वे समस्त शोक को भीतर ही पी गए। उन्होंने मेरी ओर देखकर केवल कहा—कुमार ! और हम दोनों भाई आवश्यक कर्ममें लग गये।

तैल द्रौणी (नौका) में पितृपादका शरीर महर्षिके आदेशसे सुरक्षित किया गया था। उस सुरभित तैलसे उसे बाहर किया गया। सुभद्र ! लगता था, पितृ चरण अब भी श्री रघुनाथके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके नेत्र खुले हुये थे और उन नेत्रों की कान्ति म्लान नहीं हुई थी। मुख पर अत्यन्त शोक जैसे अब भी विद्यमान हो।

सम्पूर्ण अन्तःपुर आर्त क्रन्दन कर रहा था। केवल माता कैकयीने वहाँ आने का साहस नहीं किया। उनकी उपस्थिति दिवंगत पितृ चरणोंकी शान्तिमें बाधा न दे और दूसरों को क्लेश न हो—कोई व्यङ्ग भी तो कर सकता था।

'मैं रामके लौटने की प्रतीक्षा करूंगी।' माता—मेरी जननीने हमारी सहायता की जब आर्यने उनके चरण पकड़ लिये कि वे हमें अनाश्रय बनाकर पितृ देहके साथ चितारोहरण का आग्रह न करें। उन्होंने माँ को रोकनेमें हमारा साथ दिया। उन्होंने कहा—'जीजी ! इस भरतका मुख देखो ! यह कैकेयी का पुत्र तो कभी नहीं रहा। यह किसके आश्रयसे जीवन रखेगा ? रामके वियोगमें कौन सम्हालेगा इसे ?

'माँ ! श्री रघुनाथके लौटने की तुम भी प्रतीक्षा करो इस अभागेके साथ।' आर्य फूट कर रो पड़े माँके चरणोंमें मस्तक रखकर और तब माँने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया।

इस प्रकार अत्यन्त दारुण आशङ्का जो हमें अत्यधिक आर्तकर रही थी, समाप्त हो गयी। हम उन अपार विपत्तिके दिनोंमें मातृहीन होनेसे बच गये।

* * *

सुभद्र ! सरयूके पावन तट पर, अवधके महा श्मशानमें हमने अपने पूज्य पितृचरण का वह शरीर चन्दन-चिता पर रखा, अमर भी जिसकी वन्दना करके अपने को कृत कृत्य मानते थे। सम्पूर्ण राजकीय सम्मान, मानव दुर्लभ सामग्री, समस्त विधि विधान—जिन्होंने इसी सरयूके तट पर शतशः यज्ञ किये थे, जिनके पक्ति बद्ध यज्ञयूप अब भी उनका यशोगान करते स्थिर हैं, उनका देह आज आहुति बना। जीवन-महायज्ञ की यही पूर्णाहुति है।

'श्री चक्रवर्ती महाराजके मर्त्य जीवन की यह पूर्णाहुति' हमारे कुलगुरुने उस महाश्मशानमें, चिता की प्रज्वलित लपटों की साक्षीमें सुरभित धूम्रसे पूर्ण वायु मण्डलमें सब को सम्बोधित किया—'अनन्त, नित्य, आनन्दमय जीवनका प्रारम्भ हुआ उनका यहाँसे। वे धन्य हैं जो देह को आहुति बनाकर इस प्रकार शाश्वत जीवन प्रारम्भ करते हैं। अन्यथा यह मृत्यु अनन्त जीवन का एक अध्याय है। ये अध्याय आते हैं, आते रहते हैं। जीवन बार बार प्राप्त होता है कि हम उसके मर्त्य धराके पृष्ठों को पूर्ण कर दें, किन्तु जब हम उसका उचित उपयोग नहीं करते, मृत्यु बार-बार पृष्ठ पलट देती है। बार-बार हम पुनः प्रारम्भ करने को विवश किये जाते हैं। उसे उचित रूपमें पूर्ण कर देने वाले का मरण—वह तो शाश्वत जीवनके प्रारम्भ का द्वारोद्घाटन मात्र है।'

आर्यने महर्षिके आदेशानुसार समस्त कृत्य सम्पन्न किये। अवध का शोक—सुभद्र ! अवध का शोक तो चतुर्दशी वर्षके लिये स्थिर हो चुका था। उसकी समाप्ति कहाँ थी। त्रयोदशाह तो केवल हमारे दैहिक परिशोधन मात्रके लिये था।

श्रद्धा परिपूत, आमन्त्रण भी जो स्वीकार नहीं करते, उन तपोधन मुनियोंने पितृ चरणके संस्कारमें भाग लिया, परिग्रह स्वीकार किया और

भोजन किया। कुलगुरुने साश्रुकण्ठ कहा था—'दशरथ का श्राद्धान्न अपनी पवित्रतामें इतना अतुलनीय है—कोई यज्ञीय हविष्य उसकी समता कर नहीं सकता।'

महर्षिने श्रौत-स्मात विधान एवं हमारे गृहसूत्रके अनुसार समस्त और्ध्वदैहिक कृत्य सम्पन्न करा दिये।

किसी सम्बन्धी स्वजन को, सामन्त नरेश को, अवधसे बाहरके प्रजा-प्रधानादि को सूचना नहीं दी जा सकी थी—अवसर नहीं था इसका। हमारी मनःस्थिति भी इस योग्य नहीं थी और महर्षिने नीति का आदर इस विषयमें समुचित माना था। श्री चक्रवर्ती महाराजका शरीर नहीं है, यह समाचार पर्याप्त विलम्बसे दूरस्थ जनों को ज्ञात हुआ।
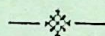
१५–माताएँ

हमारी माँ—कौशल्या दक्षिण कौशल* की कन्या हैं। दक्षिण कौशल सदासे अयोध्या का दक्षिण हस्त रहा है। वहाँके नरेश श्री अवधके अन्तरङ्ग रहे हैं। पितृ चरणोंने प्राजापत्य विधिसे माँ का पारिग्रहण किया था और अयोध्याने अपने उज्वल इतिहासमें इससे पूर्व कदाचित ही ऐसी महारानी एवं ऐसी राजमाता पाई हो।

माँ का शील—उसकी तुलना नहीं है तथा तुलना नहीं है उनके असीम वात्सल्य की। स्व-परका भेद उनके चित्त को स्पर्श करता ही नहीं। मेरी जननी तथा छोटी माँ कैकयी को वे अपनी सहोदरा अनुजा मानती रही हैं।

अधिकार तो जैसे सदा दूसरोंका ही होता है। माँ तो स्नेह एवं सेवा की मूर्ति हैं। उनमें यह विचार ही कभी नहीं उठता कि उनका भी कहीं कुछ स्वत्व है। उनका सम्पूर्ण जीवन व्रत, आराधना एवं सेवाका जीवन है। वे दिव्यत्व की सचल प्रतिमा—किन्तु सुभद्र! वे धरा-धाम पर न पधारतीं, श्री रघुनाथ किसे जननी बनाते? उन परात्पर पुरुष की जन्मदातृ होने योग्य महान् नारी दूसरी कहाँ पाती यह धरित्री।

* वर्तमान छत्तीसगढ़।

उन भुवन वन्दनीया को जब हम विषण्णवदन, शोकजर्जरा, साश्रु नेत्री देखते—हृदय फट जाता। उन्होंने अनेक बार हम दोनोंके सम्मुख कहा—'भरत ! सायंकाल ही गुरुदेवने सूचित किया था कि श्री रामका युवराज पद पर अभिषेक होगा। उन्हें उनके मित्रोंने बधाई दी थी। उस समय भी उन्हें एक ही चिन्ता थी—'सानुज भाई भरत तो आये नहीं।'

'प्रातः सुमन्त्र लिवा ले गये उन्हें छोटी महारानीके सदनमें। कुछ ही समय बीता होगा, राम मेरे समीप पूजन कक्षमें ही आ गये। न मुख चन्द्र खिन्न हुआ था, न कोई विषाद—वही स्मित शोभित नित्य प्रसन्न वदन। मैं पूजन कर रही थी। पूजन-समाप्त करते ही रामने मेरे पदोंमें मस्तक झुकाया। मैं क्या जानती थी कि रात्रिमें क्या हो गया है। आह्लाद पूरित होकर मैंने हृदयसे लगाया। आशीर्वाद दिया और पूछा—'अभिषेक का मङ्गल मुहुर्त किस समय है।'

'राम-नित्य प्रसन्न राम हँसते बोले—"माँ, मुझे पितृ चरणोंने चतुर्दश वर्षके लिये अरण्य साम्राज्य प्रदान करने की कृपा की है ! तुम प्रसन्न चित्तसे आज्ञा दो माँ !"

'मैं समझ ही नहीं सकी कि राम कहते क्या हैं। वे तो परिहासमें भी असत्य नहीं बोलते ! साथमें महामात्यके कुमार आये थे। उन्होंने मुझे पूरा वृत्त सुनाया।

'सहसा वज्राघात भी इतना दारुण नहीं होता होगा भरत ! मेरी वाणी असमर्थ हो गई कुछ क्षण। श्री चक्रवर्ती महाराजने राम को वनवास दिया होता—महाराज पर मेरा अधिकार था। राम को रोक सकती थी मैं, किन्तु वनवास तो दिया था राम की छोटी माताने। मैं बीचमें बोलने वाली कौन। राम मेरे कब थ ? शैशवसे उन्होंने कैकेयी को ही माँ माना—जाना और जब माँ अपने पुत्र को वन भेज रही है, मैं कैसे साहस करती मध्यमें आने का। अनुमति देनेके अतिरिक्त मेरे समीप दूसरा मार्ग ही कहाँ था।'

'पता नहीं कैसे सीता को समाचार मिल गया। वह वहीं आ गयी। जानकी—मेरी सुमन सुकोमल पुत्र वधू, जो जानती नहीं थी कि दुःख तेकह किसे हैं। जिसके पल्लव मृदुल पद आस्तरण हीन धरा पर पड़कर क्लेश पावेंगे, इसका मैं सदा ध्यान रखती थी। वह विदेह राज नन्दिनी आयी, प्रणाम करके मुझे बैठ गयीं। उसके दीर्घ दृग भर आये थे। उसका मुख ही कह रहा था कि वह भी अनुमति लेने आयी हैं। मैं वनमें जाने की अनुमति

दूं उसे !' माता इस चर्चा को प्रारम्भ करके प्रायः मूर्छित हो जाया करती थीं।

'जानकी रह जाय—मेरे प्राणों को एक आधार हो जाय। मैं चौदह वर्ष काट दूंगी इसका मुख देखकर !' अपने रामके सम्मुख मैं पहिली बार रोयी। रामने समझाया—मेरे सम्मुख सदाके संकोच शील राम को अत्यन्त संकोच हो रहा था; किन्तु स्थिति देखकर उन्होंने सीता को सब प्रकार समझाया। भरत—मेरे फूटे भाग्यमें इतना भी सुख कहाँ था। वैदेहीने भी विवश होकर अत्यन्त मन्द मृदु स्वरमें कातर कण्ठसे उत्तर दिये। अनुनय की और श्री राम को उसे अनुमति देनी पड़ी। वह उस चन्द्र की ज्योत्सना–उसे क्या पृथक किया जा सकता था। मैंने देख लिया—इस नलिनी को उसके नालसे पृथक करने का तू दुराग्रह करेगी तो यह सूख जायेगी। यह देह धारण नहीं कर सकेगी। तब मौन रह गयी मैं। जिसका हृदय वज्रा-धिक परुष है, वह कौशल्या ही क्यों न सहे सब विपत्ति।'

'भरत ! जब सीताके साथ राम राज भवनसे निकले—प्राण नहीं निकल गये इस निष्ठुराके। पता नहीं कब लक्ष्मण उनके साथ हो गया था। मैं मना कर दूंगी, इस भयसे वह मेरे समीप अनुमति लेने भी नहीं आया।'

मेरे दोनों कुमारोंने शरीर पर न कौशेय वस्त्र थे, न कोई आभरण था। मुक्तकेश, निराभरण, वल्कलधारी राम-लक्ष्मण—हाय रे कौशल्याके नेत्र, यह भी देखना था तुम्हें। लक्ष्मणने कमण्डल, पाश बाँध लिये थे पीठ पर !' माता मूर्छित हो गयी यह कहते समय।

'मेरी पुत्रवधू—भुवन धन्या धरानन्दिनी, उसे क्या पता कि वल्कल कैसे पहिना जाता है। महर्षि वशिष्ठने उसे वारितकर दिया था वस्त्रा भरण उतारनेसे। रामने अपने करोंसे उसके वस्त्रोंके ऊपर ही बल्कल बाँध दिया था। अयोध्या की राजवधू वल्कल लपेटे राज सदनसे पैदल निकली !' देवी श्रुतिकीर्ति फूट कर क्रन्दन कर उठीं। कुमारको भी कुछ क्षण लगे अपने को स्थिर करनेमें।

'वही प्रसन्न मुख, वही मन्दस्मित, रामके वदन पर तो सदा की वही अम्लान श्री थी। लक्ष्मणके नेत्र अवश्य रोषसे जल रहे थे। उसका मुख लाल हो रहा था। अपने अग्रजके संकोच वश वह मौन था—जैसे ज्वाला-मुखी सो रहा हो। वधू जानकीके मुख पर स्वेद कण झलमला आये थे राज सदनसे बाहर आनेमें ही। वह आतप तापित नलिनी—हाय रे दैव !'

'रामने अपने सेवकोंको अमित उपहार दिये । अपने अश्वादिकी परिचर्याका ध्यान रखनेका आदेश दिया । सखाओंको, नागरिकोंको, परिजनोंको, विप्रोंको—सबको उपहार, दान, सम्मानसे सन्तुष्ट किया। सबसे यथोचित रूपमें वे मिले ।'

'भाई भरतका आप सब सम्मान करें ।' चलते-चलते रामने सबसे हाथ जोड़कर कहा—'मेरा, सबसे अधिक प्रिय वह करेगा, जिससे पितृ चरणोंको सुख हो और जो अपनी सेवासे भरतको प्रसन्न करे ।' इस प्रकार सबसे विदा लेकर जानकी-लक्ष्मणके साथ राम बैठे रथ पर और सुमन्त्रने रथ हाँक दिया ।'

माँ की व्यथाका पार नहीं था ; किन्तु उनके वात्सल्यकी भी सीमा नहीं थी । हम दोनों भाई व्यथित होंगे, इसलिए वे अपने अश्रु रोक लेती थीं । हम दोनों कुछ खा सकें, इसलिए हमारे आग्रह पर वे यत् किञ्चित् फल-कन्द ग्रहण कर लेती थीं । अन्न उन्होंने छोड़ ही दिया था और दुग्ध-दधि देखते ही उनकी व्याकुलता चरम सीमा पर पहुँचती थी—'मेरी भोली वधू जानकी ! हाय, वह बच्ची एक बिन्दु दूध नहीं पाती आजकल ।' माँके सम्मुख गोरस लाना ही बन्द कर देना पड़ा था, उनकी मानसिक स्थितिके कारण ।

माँ अब पूजन-कक्षमें ही निवास करती थीं । वे भूमि पर तृणास्तरण पर रात्रि व्यतीत करतीं और दिवस उनका जप, पाठ, अर्चनादिमें व्यतीत होता । सप्ताहमें उनके अब चारसे भी अधिक व्रत पड़ने लगे थे । वैसे भी माँ सदासे अर्चन, व्रतादि परायण रही हैं ; किन्तु अब तो उनका श्वास-प्रश्वास आराधना बन गया था ।

'भरत कहाँ है ? भरतने जलपान ग्रहण किया ? भरतका ध्यान रखना ! उसकी व्यथाकी सीमा नहीं है ।' इधर माँको सदा श्रीभरतलालकी ही चिन्ता लगी रहती है । वे इस चिन्तामें जैसे श्रीराम-वियोगको भूल ही गयी हैं । हम दोनों भाईयोंका रात्रि-विश्राम स्थान अब माँका ही स्थान हो गया था । माँके अङ्कको छोड़कर इस विपत्तिके व्यथा भरे दिनोंमें और आश्रय भी कहाँ था हमें ।

* * *

सुभद्र ! मेरी जननी सौमित्र देशकी कन्या हैं । उनके पिताने उन्हें स्वयं पितृ चरणोंको आमन्त्रित करके अर्पित किया । वे अयोध्या आयीं और राज सदनकी अधिष्ठात्री हो गयीं उनकी प्रबन्ध पटुता प्रख्यात है और

उनकी सावधानी, उनका शील—एक सेवक तकको भी कभी कोई असुविधा नहीं होने दी उन्होंने।

पितृ चरणोंके मुखसे सुना है मैंने—'महारानी तो सुमित्रा ही हैं। राज सदनकी समस्त व्यवस्थाकी वे सहज अधीश्वरी—उन्होंने हम सबको निश्चित कर दिया है।'

पितृ चरणको, माताओंको, हम चारों भाईयोंको, वधुओंको, सेवकों को, आगत अतिथियों एवं विप्रवर्गको—इतना ही नहीं, गोशालाके गोधनको अश्वशाला-गजशाला आदिको—किसको कब क्या आवश्यकता है, वस्त्र, आभरण, अङ्गराग, ताम्बूल एवं दूसरे उपकरण, कब किस पर्वादि पर क्या विशेष आयोजन करना है कहाँ, विप्रोंके यहाँ, देवालयोंमें, नागरिकोंके यहाँ विशेष अवसरों पर क्या भेजना है—सबकी व्यवस्था मेरी जननी करती थीं।

माँको अपने अर्चन पूजनसे अवकाश नहीं था और छोटी माता तो कलापूर्ण रुचि रखने वाली, शासक स्वभावकी थीं। वे श्रृङ्गार प्रिय एवं मानधनी थीं। व्यवस्थाकी ओरसे जननीने सबको निश्चिन्त रखा। ब्राह्म-मुहूर्तसे लेकर अर्ध रात्रि तक वे व्यस्त रहती थीं। उन्हें राज सदनमें ढूँढ़ना पड़ता था ; क्योंकि एक स्थान पर वे रह नहीं पाती थीं ; किन्तु जहाँ उनका प्रयोजन हो, उन्हें ठीक क्षणमें अवश्य उपस्थित देखा जाता था।

मेरे सहोदर अग्रजको श्रीरघुनाथके साथ तथा मुझे श्रीभरतजीके साथ करके वे हम दोनोंकी ओरसे शैशव कालमें ही निश्चिन्त हो गयीं। उनका वात्सल्य गम्भीर कोटिका था और उनका स्वभाव—उनके शीलके गाम्भीर्यका पता किसने पाया है। उनकी नीति-निपुणताकी कहीं कोई समता नहीं मिल सकती।

पितृ चरण परलोक पधारे, श्रीरघुनाथ सहानुज वनमें चले गये, हम दोनों भाई मातामहके यहाँ थे—ऐसे विषय समय में—वैधव्यकी मर्मान्तक वेदनाको भगवान भवानी नाथके हलाहल पानके समान पीकर, बिना प्रमाद, बिना अस्तव्यस्त हुए राज सदनकी व्यवस्था जननी न सम्हाल लेतीं—अवधका अन्तःपुर पता नहीं किस अवस्थाको प्राप्त होता।

उन दिनोंकी उनकी विषमावस्था—सुभद्र, कल्पना भी थकित हो उठती है। माँ बार-बार मूर्छित होती थीं, हम तीनों भाईयोंकी वधुओंकी अवस्था—उसमें भी छोटी भाभीकी वेदनाको सम्हालना—कोई सेविका, कोई सेवक अपनी सहज अवस्थामें नहीं था। सब व्याकुल थे। सबका

मानस वेदनासे विदीर्ण हो रहा था । किसीसे सावधानीपूर्वक कोई कार्य करनेकी आशा नहीं की जा सकती थी। उस समय सबको सम्हाला—सबकी व्यवस्था रखी, सबको लगाये रखा कार्योंमें जननीने, जबकि उनकी वेदना भी किसीसे कम नहीं थी ; किन्तु वे तो महर्षिके धैर्यको भी लज्जित कर गयीं।

सुभद्र ! जीवनकी अनेक महान भूलोंसे जननीने मेरी रक्षाकी। उन्होंने ही माताकी उपेक्षाके अपराधसे मुझे बचाया । सबसे प्रथम उन्होंने ही एकान्तमें मुझे बुलाकर कहा—'कुमार ! इस समय अयोध्यामें सबसे अधिक व्यथा पीड़ित कौन है, जानता है ? निश्चय तू नहीं, मैं नहीं, भरत नहीं और बड़ी जीजी भी नहीं। वे हैं तेरी छोटी माता।'

मैं तो चौंक कर जननीका मुख देखने लगा था । उन्होंने कहा—'कुमार ! भूल किससे नहीं होती। भूल ही तो मानवके मर्त्य होनेका प्रमाण है ; किन्तु छोटी महारानीकी भूल—भूल मत कि वे अत्यन्त स्वाभिमानिनी हैं। तिल-तिल अन्तरमें जलते वे मरणको स्वीकार कर लेंगी ; किन्तु मुख नहीं खोलेंगी।'

'किसके आगे वे मुख खोलें, जननीने दो क्षण रुककर नेत्र पोछें—'वे अपनेको जीजीकी और मेरी भी अपराधिनी मानती हैं अपने चित्तमें । मेरे समीप जानेसे उनकी व्यथा बढ़ेगी। उन्हें लगेगा कि मैं उनको अपमानित करने, उन्हें तुच्छ दिखानेके उद्देश्यसे उनको आश्वासन देने तथा उनकी सहायता करने आयी हूँ। मेरी सेवा वे स्वीकार कर नहीं सकतीं। उनकी स्थितिमें कोई नहीं करता। दूसरे सब अयोध्यावासी, सब सेवक-सेविका भी उनसे घृणा करते हैं । जो सबकी सर्वाधिक सम्मान भाजन थीं, जिनका संकेत भी राजाज्ञा था, वे आज सबकी उपेक्षणीया हैं ।'

'भरतको मैं जानती हूँ । वह अब कैकेयीके समीप जानेसे रहा। जीजीकी और मेरी आज्ञा भी इस सम्बन्धमें वह सुने—सुने भी तो लाभ क्या ? वहाँ जाकर उसकी वेदना शतगुणित हो जायगी और उसकी वाणी भले मूक बनी रहे, उसकी रोम-रोम भङ्गिमा भर्त्सना करेगी कैकेयीकी। भरतको कुछ नहीं कहा जा सकता ; किन्तु कुमार !' जननीने गम्भीरता पूर्वक मेरी ओर देखा—'तुझे यदि मेरा कुछ प्रिय करना है एवं अपने महान् भाई श्रीरामकी भी प्रसन्नता अभिप्रेत है तो अपनी छोटी माताका सबसे अधिक ध्यान रख। उस आश्रय हीना, भाग्य वञ्चिता, सर्वलाञ्छिता दुखियाको जैसे बने सन्तुष्ट रखनेका प्रयत्न करता रह।'

जननीकी आज्ञा—हमारे लिए तो सदासे वह श्रुतिके समान सम्मान्य रही है।

* * *

सबसे दु:खिनी हमारी छोटी माता—वे कैकयी नरेश महाराज अश्वपतिकी एक मात्र कन्या—सुना था,पितृ चरणोंने स्वयं उनसे परिणयकी इच्छा व्यक्तकी थी और इस आश्वासन पर महाराज अश्वपतिने यह सम्बन्ध स्वीकार किया था उनका दौहित्र ही अयोध्याके सिंहासनका अधिकारी होगा।

यह आश्वासन श्रीरघुनाथके प्रकट होनेके पश्चात् कहाँ किसे स्मरण था। माताने तो कभी जाना नहीं था कि भरत उनके पुत्र है । वे 'मेरा राम, मेरा राम' कहते थकती नहीं थीं। श्रीरघुनाथ भी शैशवसे उन्हींको अधिक मानते थे।

माताने ही शैशवमें हम सबको श्रीरघुनाथका अनुगामी होनेकी प्रेरणा दी थी। वे स्वयं कहती थीं—'मेरा राम राजा है और भरत उसका सेवक बनेगा।' सुभद्र ! कितना बड़ा आघात लगा उन्हें अपने ही कृत्यसे ।

श्रीचक्रवर्ती महाराज उनका अत्यन्त सम्मान करते थे । सेवक-सेविकायें, राजपुरुष तथा पूरा अन्त:पुर उनके संकेतका वशवर्ती था। वे अत्यन्त स्वाभिमानिनी तथा कोमल हृदय हैं। उनका कला प्रिय हृदय....'।

ओजस्विता एवं धैर्य उनके समान कदाचित ही किसी नारीमें मिले। सुना है देवेन्द्र की सहायताके लिए पितृचरण अमरावती पधारे थे। असुरोंने देवधानी पर आक्रमण कर दिया था और देवता उनकी शक्तिके सम्मुख स्थिर नहीं हो पारहे थे। पितृचरणों के साथ माता भी गयीं और युद्धमें रथ पर रहीं साथ। युद्ध जब विजयके समीप था, पितृचरणों के रथका धुरा टूट गया। केवल माताने उसे देखा और वे रथसे नीचे आगयीं। उन्होंने अपनी भुजा लगादी वहाँ। अस्त्र वर्षा चलती रही, कटते रहे असुर और आक्रमण करते रहे। दौड़ते रथके साथ माता दौड़ती रहीं। युद्धकी समाप्ति पर विजयी महाराजको माताने रथसे नीचे आने को कहा। अब महाराज का ध्यान उनकी ओर गया। वे रथसे उतरे, माताने हाथ खींचा—चर्म, मांस, स्नायु छिन्न हो चुके थे। रक्तात्क्त वह अस्थिमात्र कर ! यह दूसरी बात कि देववैद्य अश्विनी कुमारों को उस भुजा को पूर्व स्थितिमें ले आनेमें दो क्षण मात्र लगे थे; किन्तु माता का वह साहस ! वह धैर्य एवं शौर्य—देवता भी उसकी स्पर्धा कर सकते थे ?

हाय सुभद्र ! माताका वह त्याग, वह सेवा एवं शौर्य ही उनके लिये शाप बन गया। उसी समय तो पितृ-चरणों ने उन्हें दो वरदान देनेको कहा था और वे वरदान...... पुण्य भी पाप बन गया उनके लिये।

* * *

मातामह के यहाँ से लौटने पर हमें माता सीधे अपने यहाँ लेगयी थीं। उस समय तक वे आवेश में थीं। उन्होंने जो कुछ किया था, उसे उचित माने बैठी थीं। उनकी तेजस्विताने वैधव्यके शोक को उनसे दूर रखा था। कितनी भ्रान्त थी उनकी धारणा ! अरे, रघुवंशका कुमार तो सदा अग्रजका अनुवर्ती होता है; किन्तु जब यह सत्य अपने अनावरित रूप में उनके सम्मुख आया—कितना दारुण था सत्य !

श्री भरतलालजी ने उनकी भर्त्सना की। जिनको जीवन में गुरुजन, स्वयं महाराजने भी आधा शब्द नहीं कहा था, उसे अपने पुत्रके मुखसे—उस पुत्रके मुखसे जिसके लिये उन्होंने वैधव्य स्वीकार किया, लोक-लाञ्छिता बनीं—अत्यन्त कटु शब्द सुनने पड़े। उसी पुत्रने अस्वीकार कर दिया कि वे उसकी कोई होती भी हैं। उनकी आशाका एकमात्र आधार ध्वस्त होगया उसी क्षण !

मैं अपने महान अग्रजके पीछे चला आया था माताके भवनसे। पितृचरणों के और्ध्वदैहिक कृत्यमें हमें प्रातःकाल ही व्यस्त होना पड़ा। उस समय दूसरे किसीकी ओर ध्यान जानेकी मनःस्थिति नहीं थी।

जो महाराज माताके जीवन थे, वे स्वयं जिनकी सर्वाधिक प्रिय थीं, उनका और्ध्वदैहिक कृत्य होरहा था और माता किसी कृत्यमें सम्मिलित होने की इच्छा भी व्यक्त नहीं कर सकती थीं। वे किस मुखसे सती होने की बात कहतीं ? उन्होंने तो महर्षि के आदेश पर महाराजको अञ्जलि देने का साहस किया और उस समय भी श्री भरतजीके नेत्र कठोर हो गये थे। उनकी वाणीने भले कुछ न कहा हो, भङ्गीने कह दिया—'इनकी जलाञ्जलि पितृचरणों को व्यथा नहीं देगी !' माता स्वयं भीत होरही थीं 'कोई व्यङ्ग न कर दे।'

इन क्रियाओं से अवकाश मिलने पर जननीके आदेशसे मैं माताके भवनमें एकाकी ही गया ! सुभद्र, इतना श्रीहीन, इतना मलिन भवन ! जो अपनी कलापूर्ण सज्जामें सुरेन्द्रसौध को लज्जित करता था, वही सदन इस दशामें। माताको तनिक भी मलिनता बहुत अधिक अखरती है, यह मैं

जानता था और उनके सदनमें लगता है कि मार्जनी तक कई दिवस नहीं घूमी। सेवक-सेविकाओं से भरा रहने वाला वह भवन आज जनहीन पड़ा था।

माताने समस्त सेवक-सेविकाओं को अपने यहाँ से विदा कर दिया था। मेरे अतिशय आग्रह करने पर उन्होंने कहा—'कुमार, सदन तुम्हारा है। तुम उसकी कोई व्यवस्था करना चाहोगे तो मैं बाधा देने वाली कौन होती हूँ।' माता के मुख से निकले ये शब्द ......!

मैं सदनमें पहुँचा तो एकमात्र सेविका मन्थरा थी वहाँ। माता ने अपने इन दारुण दिनों में उसे आश्रय दिया। उसका त्याग उन्होंने अन्त तक नहीं किया। मुझे देखते ही वह कुब्जा दासी भयभीत होउठी और थर-थर काँपने लगी थी। माताने स्वयं उठकर कहा–'इसे क्षमा कर दो कुमार! अपराधिनी तो मैं हूँ।'

मुझे भी दया आयी उस दासी पर, मैंने उसे आश्वासन दिया। अपनी अज्ञतासे वह असहाय होगयी थी। माता उसे आश्रय न देतीं—अवध तो क्या, कदाचित् पूरी धरित्रीमें कहीं कोई आश्रय देने वाला नहीं था उसे। वह कहाँ राजरानी थी। राज सदनसे बाहर मुख दिखलाना सम्भव नहीं था उसके लिये। उस पर चाहे जो व्यङ्ग करेगा और बच्चे तथा दूसरे भी यदि उसपर आघात करें—उसे रक्षाके लिए पुकारने का स्थान कहाँ रह गया ?

माताने उस दासीको आश्रय दिया था और वह भी माताका आश्रय बन गयी थी। केवल वही थी, जिसे मातासे सच्ची सहानुभूति रह गयी थी। माताकी आवश्यकता वही समझ सकती थी। वैसे भी वह माताके साथ उनके पितृगृह से आयी थी। वही थी इन दिनों जिससे माता कुछ कह सकती थीं और जिसका आग्रह माता को रखना पड़ता था।

तनिक आश्वासन प्राप्त करते ही वह अत्यन्त दयनीय ढङ्गसे मेरे समीप आ गयी ओर उसने धीरेसे कहा—'महारानी ने तुम्हारे यहाँसे चले जाने के पश्चात्से कुछ भी आहार नहीं ग्रहण किया है कुमार !'

उस दासीका मुख, उसकी दृष्टि—पूरी भङ्गी जैसे भिक्षा माँग रही हो कि उसकी महारानीके प्राण किसी प्रकार बचाये जावें।

* * *

सुभद्र ! माताको मैंने देखा उस दिन—प्रथम दृष्टिमें मैं उन्हें पहिचान न पाता, यदि वे अपने सदनमें न होतीं। शोकको व्यक्त करनेकी भी उनकी

परिस्थिति नहीं थी । अन्तः की असीम वेदना ने ही उन्हें दो दिनमें वृद्धा वना दिया था । उनके केश सर्वथा श्वेत हो चुके थे । नेत्रोंके चारों ओर घनी कालिमा आगयी थी । शरीरमें रक्त जैसे सर्वथा न रह गया हो—कङ्काल प्राय हो गया था उनका शरीर ।

उनके सदनके सब चित्र, सब सज्जा सामग्री उन्होंने हटवा दी थी। उनके बहुमूल्य आस्तरण, रत्न-खचित पलङ्ग एवं हैमपट्ट तक मुझे दृष्टि नहीं पड़े । सब उन्होंने एक ओर रखवा दिये थे । उनके निराभरण शरीर पर एक मलिन प्राय वस्त्र था और भूमि पर ही तृणास्तरण पर विराजमान थीं। शोकाहत उनका मुख—इतना दीन, इतना आर्त मुख भी किसी का होता होगा ?

'मैं किसी की प्रणम्य नहीं हूँ कुमार !' मेरे अभिवादन का माताने यह उत्तर दिया खिन्न स्वरमें—'तुम यहाँ आये, यही क्या कम अनुग्रह है तुम्हारा ! अन्यथा मेरा मुख देखने योग्य रहा नहीं है ।'

'माता !' मैं रो पड़ा उनके अङ्कमें सिर रखकर ।

'मत कहो !' माताके अश्रु उनके दारुण शोकने शुष्क कर दिये थे । उनका कण्ठ शुष्क हो रहा था । वे कितनी वेदनाके शब्द कह रही थीं—'पुत्र भक्षिणी माता—माता नहीं हुआ करती । मुझे माता कहनेसे तुम्हारे निर्मल यश को कलङ्कलगेगा । रघुकुलके धवल कीर्ति, उदार चरित कुमारों में से किसी की माता मैं नहीं ।'

'जिसकी मैं माता थी, जो शैशव में भी मेरे अंक के बिना रात्रि को सो नहीं पाता था' माता की रुद्ध वेदना वाणी पायी—'उसे मैंने स्वयं वनमें भेज दिया ।'

मैं स्थिर बैठ गया । माता का अन्तः शोक वाणीसे व्यक्त हो जाय—वह कुछ घटेगा । यह उनके लिये अच्छा होगा, ऐसा मुझे लगा ।

'कुमार ! महाराज कितने प्रसन्न आये थे उस दिन मेरे भवनमें । उन्हें क्या पता था कि कैकेयीके मस्तक पर हत्या चढ़ी बैठी है । मैं कोप-भवनमें थी । महाराज मेरी तनिक-सी खिन्नता सहन नहीं कर पाते और मैं हूँ—मैंने उनकी हत्या करदी, अपने देवता को मैंने तड़पा-तड़पा कर मारा ।' अग्नि समान माताके नेत्र जल रहे थे । वे जैसे उन्मादिनी हो गयी थीं ।

'मुझे मलिन वसना, निराभरण, खिन्न देखकर महाराज का श्रीमुख उदास हो उठा । उन्होंने श्रीरामके अभिषेक की बात कही । वे समझते थे,

मैं इससे हर्षसे भर उठूँगी ; किन्तु उन्हें क्या पता था कि इस पापिनी का हृदय कितना कलुषित था। उस समाचारने मेरे हृदंयको जैसे विद्ध किया।'

'महाराजने मेरी अनुनयकी और जब मैंने वरदान देनेकी बात कही, उन्होंने सीधे सरल भावसे यथेच्छ वर माँग लेनेको कहा। मैंने वस्त्राभरण धारण किये—वे परम सरल, वे क्या समझते कि मुझमें कितनी कुटिलता भरी हुई है।'

'कुमार, तुम सोच नहीं सकते कि तुम जिसे माता कहते हो, वह कितनी क्रूरा पिशाचिनी है। मैंने वरदान माँगे और तुम्हारे पिता मूर्छित होकर गिर पड़े। उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ पहिले कि मैं सत्य कह रही हूँ या परिहास कर रही हूँ और जब विश्वास हुआ ...।'

'मेरे वे आराध्य थे, सर्वस्व थे और मुझे अपने प्राणोंसे अधिक प्यार किया था उन्होंने। उस दिन एक क्षणमें उनका शरीर पीला पड़ गया। वे मेरे पैर पकड़ कर अत्यन्त दीनके समान प्रार्थना कर रहे थे। जलसे बाहर निकाले मत्स्यके समान तड़प रहे थे ; किन्तु शत्रुघ्न—इस पिशाचीका हृदय वज्रका है।'

'हाय! कौशिल्या जीजीने क्या बिगाड़ा था मेरा। अपनी अनुजाके समान वे सदा स्नेह करती रहीं—अब भी करती हैं और मुझमें उनके प्रति घोर विद्वेष जागृत हो गया था। मेरा पाप—मुझे सर्वत्र पाप ही दीखता था। मुझे दीखता था कि जीजीने महाराजको स्वमत्तमें कर लिया है और राजमाता होकर मुझे अपमानित करना चाहती हैं। मैं उनसे बदला लेने पर तुली थी, जिसने आज भी रोष नहीं किया मुझपर।'

'तुम्हारे पिताने उस दिन गिड़गिड़ा कर, रोकर प्रार्थनाकी। मेरी भर्त्सनाकी और अन्तमें मेरा त्याग कर दिया। कुमार! उन्होंने मुझे त्याज्य पत्नी कहा और तब भरत ठीक कहता है कि मैं उसकी माँ नहीं—उसकी कोई नहीं हूँ।'

'प्रातः महामात्य सुमन्त्र मेरे सदनमें आये। महाराजके समय पर उत्थित न होनेसे प्रजा-प्रमुख एवं राजपुरुषोंका चिंतित होना स्वाभाविक था। मैंने महामात्यको भेजकर रामको बुलवाया।'

'राम—मैं अब 'मेरा राम' कहने योग्य भी नहीं रही।' माता मूर्छित हो गयीं। मन्थराने मेरी सहायताकी उन्हें सावधान करनेमें। वे उन्मादिनी

की भाँति कह रही थीं—'राम आये और उन्होंने मुझे सरल भावसे अभिवादन किया। पिताकी विह्वल दशा देखकर वे खिन्न हो गये। उनके पूछने पर किञ्चित् सङ्कोच नहीं हुआ कुमार। मैंने महाराजके वरदान देनेकी बात निःसङ्कोच सुनादी रामको।'

'तनिक भी भय, खेद, हिचककी रेखा श्रीरामके मुख पर नहीं आयी।' उस दिन भरत पूछता था—'उसके बड़े भाईने क्या अपराध किया? परस्व हरण, पर नारी पर कुदृष्टि, गुरुजनोंका अपमान, प्रजोत्पीड़न, ऋषि-मुनियोंके प्रति प्रमाद? छिः! राममें अपराध हो सकते हैं? रामको स्वप्नमें भी अपराधकी छाया स्पर्श कर सकती है!'

'रामने क्या कहा कुमार, तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। उन्होंने मेरी बात सुनकर कहा—'माँ, इतनी क्षुद्र बातके लिए आपने पितृ-चरणोंको क्लेश दिया। यह आज्ञा तो आप ही मुझे दे सकती हैं। आपकी इच्छा मेरे लिए आज्ञा है; किन्तु पिता इतनेके लिए इतने अधिक व्यथित हैं—मुझसे कोई भारी अपराध तो नहीं हुआ?'

'मुझसे अनुमति लेकर राम अपनी जननीसे विदा लेने गये और जब वे लौटे, उनके साथ तुम्हारे सहोदर अग्रज लक्ष्मणलाल थे एवं तुम्हारी बड़ी भाभी थीं। लक्ष्मणका मुख क्रोधसे लाल हो रहा था; किन्तु रामके भयसे उन्होंने मुख नहीं खोला। वैदेही तो जैसे प्रतिमा बन गयी थीं।'

'कुलगुरुने, देवी अरुन्धतीने नगरकी सम्मान्य नारियोंने, मेरी अपनेको सखी मानने वाली महिलाओंने भी मुझे समझानेका बार-बार प्रयास किया। उन्हें क्या पता था कि मैं इतनी अधम हूँ कि उनके किसी सम्पर्कमें रहने योग्य नहीं। विफल मनोरथ होकर सबने मुझे धिक्कारा, सबने मुझे त्याग दिया सदाको और मैं हूँ भी इसी योग्य।'

'कितनी तुच्छ माँग थी सबकी—"भरतका अभिषेक हो; किन्तु श्रीराम वन न जाकर गुरुगृहमें चतुर्दश वर्ष वास करें।" जिसके सिर पाप चढ़ा बैठा हो, वह कैसे इसे स्वीकार करता?'

महाराज अपने श्रीमुखसे रामको वन जानेकी बात कहें, यह कैसे सम्भव था। वे रामको अङ्कमें लिए क्रन्दन कर रहे थे और मुझे क्षण-क्षणका विलम्ब असह्य हो रहा था। मैंने तीनोंके लिए वल्कल अपने हाथसे निकाले और सम्मुख रखकर बोली—'राम पिताका तुम पर अगाध स्नेह है। वे तुम्हें अपने मुखसे कुछ कह नहीं सकेंगे। तुम्हें स्वयं जो उचित लगे, करो।'

'धिक्कार है कैकेयी तुझे !' कुलगुरु ने घृणासे मुख घुमा लिया था। सब उपस्थित जनोंके मुख पर रोष, वेदना, घृणा थी ; किन्तु कैकेयी मानवी हो तब तो इस सबसे प्रभावित हो।'

'माँ, मेरे लिए तो आपके मुखसे निकला आदेश भी पिताका आदेश ही है। मैं अपनेको धन्य मानता हूँ कि माताने मुझे आज्ञा देने योग्य तो माना।' यह कहकर राम उठे। उन्होंने आभूषण उतार दिये मेरे इन्हीं अभागे नेत्रोंके सम्मुख तथा अपने बहुमूल्य वस्त्र भी उतार दिये। वल्कल धारण करते रामको देखकर समस्त उपस्थित जन रो उठे थे। लक्ष्मणने भी रामका अनुसरण किया।'

'बेचारी जानकी ! वह जानती ही नहीं थी कि वल्कल कैसे पहिना जायगा। हाथमें वल्कल लिए वह सङ्कोचपूर्वक रामका मुख देख रही थी और मैं उसे वज्र दृष्टिसे घूर रही थी। नहीं सहा गया क्षमाके सागर होने पर भी कुलगुरुसे यह। उन्होंने सतेज नेत्रोंसे मुझे तर्जनाकी—'कैकयी ! अब तो साहसकी सीमाका अतिक्रमण कर रही है तू ! तूने केवल रामके लिए वनवास माँगा है। जनक-नन्दिनी सम्पूर्ण वस्त्राभरण संयुता जायेंगी। तूने यदि और कोई कुटिल आग्रह किया....।'

'कुमार ! नीच केवल भयसे मानते हैं। मुझसे नीच तुम्हें कहाँ मिलेगा जगतीमें ? कुलगुरुकी तर्जनाने मुझे भयसे कम्पित कर दिया। वे शाप दे सकते थे। लक्ष्मण एवं जानकीको वारित करके रामके प्रतिनिधि रूपमें जानकीको सिंहासनासीन कर सकते थे। रामको ही वनके नाम पर अवधके समीप ही कहीं रहनेका आदेश दे सकते थे। उनके आदेशको लंघित करनेकी शक्ति किसमें थी ? मेरे कुटिल हृदयमें आशङ्काओंका अम्बर उठ गया और भयसे मैंने मस्तक झुका लिया।'

श्रीरामने जानकीके वस्त्रों पर अपने करोंसे ही ऊपर-ऊपर वल्कल लपेट दिया। पिताके पदोंमें प्रणिपात करके जाते समय वे मुझे भी अभिवादन करना नहीं भूले।'

'राम भवनसे भाई एवं भार्याके साथ निकले और महाराजने भी मेरा भवन त्याग दिया। वे उसी समय जीजीके भवनमें चले गये। वहींसे उन्होंने महामात्यको आदेश दिया रथ पर श्रीरामको ले जानेका।'

'पतिने जीवन कालमें ही मुझे त्याग दिया। जो पुत्र मुझे माँ कहता मानता था, उसे मैंने निर्वासित कर दिया पुत्रवधूके साथ और जिस पुत्रके

लिए यह सब किया—उसने स्पष्ट कह दिया कि मैं उसकी कोई नहीं हूँ।' माताने शून्य नेत्रोंसे ऊपर देखा।

'कुमार ! महारानीका कोई दोष नहीं है । उन्होंने इस नीच दासी पर विश्वास किया।' मन्थरा मेरे पास आगयी और बहुत धीरे फुस-फुसाते हुए ; किन्तु रोते-रोते बोली—'महारानीको इस नीचने बहकाया। आप मेरा वध करदें ; मुझे कारागरमें डालदें ! हिंस्र पशुओंको दे दें ; किन्तु महारानी पर रोष न करें । वे अनाहार हैं कई दिनसे। उन्हें किसी प्रकार····।'

'वे मेरी माता हैं !' मैं इतना ही कह सका मन्थरासे । मेरी स्थिति कुछ बोलने योग्य नहीं थी। माताका ध्यान इधर नहीं था। वे शून्य दृष्टिसे ऊपर ही देख रही थीं।

'भरतने मुझे त्याग दिया ; किन्तु मैं धन्य होगयी ! कुलगुरु, माता अरुन्धती, द्विजपत्नियाँ, सखियाँ समझाकर भी जो समझा नहीं सकी थीं, श्रीचक्रवर्ती महाराजका निधन भी जिनके नेत्रों परसे महामोहके आवरणको हटा नहीं सका था, उसे भरतने एक क्षणमें हटा दिया।' माता जैसे अपने आपसे ही कह रही हों—'भरतने मुझे नेत्र दिया, मुझ अज्ञान मग्नाको उसने विवेककी विमल ज्योति प्रदानकी। वह कहे, मैं उसकी कोई नहीं हूँ ; किन्तु वह मेरा सुपुत्र है।'

'कुमार, इस कीचसे कमल उत्पन्न हुआ है । कीच दुर्गन्धित सही, उसका कमल सौरभ पूर्ण है, ज्योतिर्मय है।' सहसा माताने भी मेरी ओर देखा—'भरतने मुझे गौरवान्वित किया। मैंने उसे लाञ्छना दी ; किन्तु मैं उसकी जन्मदात्री होकर धन्य हुई। उसने जो कुछ किया,रघुवंशके कुमारको यही उचित था । वह मुझे त्याग दे—मेरे अन्तरका कोटि-कोटि आशीर्वाद उसे ; यदि मैं अब भी उसे आशीर्वाद देने योग्य होऊँ।'

'माता ! मुझे क्षुधा पीड़ित कर रही है ! कबसे मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ, आप स्वयं········।' मैंने प्रसङ्ग समाप्त कर देनेके लिए यह बात कही।

'क्या ? क्या कहा कुमार ?' माता लगभग चीख पड़ीं—'तुम कैकेयीके सदनमें भोजन करना चाहते हो ? तुम्हें भय नहीं लगता ? जिसने पतिका भक्षण कर लिया, शीलनिधि रामसे पुत्रको अपने करोंसे वल्कल पहिना कर निर्वासित कर दिया वनमें, वह तुम्हें विष नहीं दे देगी ? उसके अपवित्र करोंसे स्पृष्ट आहार तुम स्वीकार करोगे ? तुम—रघुवंशके परम पावन कुलमें उत्पन्न कुमार ?'

'माता !' मैंने अब अत्यधिक आग्रहके स्वरमें कहा—'आप कुछ भी कहें, कुछ भी मानें अपनेको ; किन्तु मेरी आप माता हैं और मैं आपके करोंसे भोजन किये बिना यहाँसे आज जाता नहीं हूँ ।'

'अन्ततः तुम रामके भाई हो ।' माताके नेत्रोंसे अब जाकर अश्रु प्रवाह फूटा और मुझे इससे आश्वासन ही मिला कि वे उन्मादिनी होनेसे बच गयीं । राम भी अन्त तक मुझे माता कहते ही गये ।'

सुभद्र ! बड़ी कठिनायीसे, बहुत समय अनुनय करनेके पश्चात् दुग्धके दो घूँट माताके कण्ठसे नीचे जासके—केवल इतना ही करनेमें मैं सफल हो सका ।

—※—

१३–अग्रज महान

जब तक हम दिवङ्गत पितृ-चरणोंके और्ध्वदैहिक कृत्योंमें व्यस्त रहे, आशङ्काका घुटा वातावरण कुछ शिथिल हो गया था । प्रजाके पितृ तुल्य थे श्रीचक्रवर्ती महाराज एवं सुरोंके परम सम्मान्य सहायक थे । फलतः प्रजाने उनके और्ध्वदैहिक कृत्योंमें हृदयसे सहयोग किया । सुरोंने समस्त स्थितियाँ सानुकूल रखनेमें कोई त्रुटि नहींकी ; किन्तु वे कृत्य सम्पूर्ण हुए, अशौच निवृत्त हुआ और एक अभूतपूर्व निस्तब्धता व्याप्त हो गयी ।

उद्दाम झंझाके पूर्व वायुके पद शिथिल हो जाते हैं, वृष्टिसे पूर्व पावसारम्भमें वातावरण एक ऊमससे भर उठता है—अयोध्याकी भी कुछ वैसी ही स्थिति हो गयी । जन-जनके मुख जैसे कुछ प्रश्न करना चाहते हों और स्वयं जानते हों कि क्या पृछ्य है उनका । एक अद्भुत तटस्थता—निस्तब्धताने लोक मानसको आच्छन्न कर लिया । उसके भीतर जैसे सहस्र-सहस्र नेत्र आशङ्का लिए हम दोनों भाईयोंको देख रहे थे और पूछते थे—'भरत ! अब क्या करोगे तुम ?'

हमसे किसीने एक शब्द नहीं कहा सुभद्र ! मैं तो अपनी अनुभूतिकी बात कह रहा हूँ । इस उद्विग्न करने वाली मनःस्थितिको हमारे कुलगुरुने भङ्ग किया । उन्होंने घोषणा करायी कि राज सभामें समस्त प्रजावर्गके प्रधान, अमात्यगण एवं विप्रवर्ग एकत्र हों । हम दोनों भाईयोंको भी उपस्थित

होनेका आदेश मिला एवं महर्षिने माता कौशल्याको भी उपस्थित रहनेको कहा ।

प्रथम बार अवधकी राजसभा श्रीचक्रवर्ती महाराजके बिना बुलायी गयी । राज्यासन रिक्त देखकर किसका हृदय विदीर्ण नहीं होता था । हमारे कुलगुरु अपने आसन पर विराजमान हुए । आज उन्हें ही सञ्चालन करना था राजसभाका । वे रघुकुलके नित्य आश्रय···· ।

कुलगुरुके संकेत पर महामात्य सुमन्त्र खड़े हुए । उन्होंने हम दोनोंको सम्बोधित किया—'आप दोनोंकी अनुपस्थितिमें जो अकाण्ड हो गया—मेरा अभाग्य, मुझे उसका साक्षी होना पड़ा और उसे आज सुनाना भी पड़ रहा है ।' महामात्यके नेत्र वर्षा करने लगे प्रारम्भसे पूर्व ही । उन्होंने माता कैकेयीके वरदान माँगनेसे लेकर श्रीरघुनाथके अवधसे प्रस्थान तककी सब बातें थोड़े शब्दोंमें सुनादीं ।

'महाराज बड़ी महारानीजी के सदनमें थे, जब उन्होंने मुझे स्मरण किया ।' हिचक पड़ते थे अवधके वे महाप्राज्ञ महामन्त्री रोते हुए—'उनका श्रीमुख पीतवर्ण हो गया था । वे बार-बार मूर्छित हो उठते थे ।' 'राम ! रामभद्र ! बेटी जानकी ! लक्ष्मण ! कहाँ हो तुम सब ?' इस प्रकार महाराज आर्त प्रलाप कर रहे थे ।

'महामात्य आये हैं ।' महादेवी--बड़ी महारानीने जो महाराजकी सुश्रूषामें व्यस्त थीं, उन्होंने महाराजके कर्णोंमें उच्चस्वरसे कहा । महाराज मेरे अभिवादनको सुन सकें, इस स्थितिमें नहीं थे ।

'सुमन्त्र !' नेत्र खोले महाराजने और जैसे प्रवाह पतित, डूबता प्राणी किसीको पकड़े--उन्होंने आतुरता पूर्वक मेरा हाथ पकड़ लिया--'सुमन्त्र, रामभद्र ! जानकी और लक्ष्मणको रथ पर बैठा कर ले जाओ । मेरी यही इच्छा है, वत्स रामभद्रसे कहना—हाय ! बेटी मैथिली कैसे सुकुमार पदोंसे चलेगी । सुमन्त्र वनके दर्शन कराके मेरे बच्चोंको लौटा लाओ ! मेरे वरदान, मेरा सत्य, मेरी प्रतिज्ञा--सब भूल जाओ सुमन्त्र ! मुझे कोटि-कोटि कल्प नरक स्वीकार है ; किन्तु श्रीरामका श्रीमुख देखे बिना मैं जीवन नहीं रख सकूँगा ! जाओ, रामको लौटा ले आओ ।'

'सुनो सुमन्त्र !' मैं चलनेको उठा तो महाराजने फिर रोका मुझे—'राम धर्म, शील एवं मर्यादाकी मूर्ति हैं । मुझे किञ्चित् आशा नहीं कि वे लौटेंगे । कैकेयी के आदेश—उसकी इच्छाको भी वे अन्यथा नहीं करेंगे ।

नहीं, रामभद्र नहीं लौटेंगे और लक्ष्मण तो रामकी छाया हैं। रामको छोड़कर लक्ष्मणके लौटानेकी आशा कोई मूर्ख भी नहीं करेगा ; किन्तु सुमन्त्र ! मेरी बच्ची जानकी—अत्यन्त सुकुमारी है, परम भीरु है वह। कैसे जीवित रहेगी वह कुसुम कलिका काननमें ? वन देखकर ही उसके तो प्राण सूख जायँगे। जब वह भयभीत हो जाय, श्रीरामसे मेरा अनुरोध कहना। वैदेही अवध रहे या मिथिला रहे, जहाँ उसका चित्त जब प्रसन्न रहे, वह रहे ; किन्तु लौट आवे। जनक नन्दिनी लौट आवे तो कदाचित् मेरे प्राण बच जायँ।'

'मैं अपने प्रभुका आदेश प्राप्त करके, उनके चरणोंकी वन्दना करके राजसदनसे बाहर आया। श्रीरघुनाथ सानुज सपत्नीक कुलगुरुके आश्रमके सम्मुख पहुँचकर रुक गये थे। माता अरुन्धती एवं मुनि पत्नियोंकी वन्दनादिमें समय लगना ही था वहाँ। वहीं उन्होंने अपने सेवक तथा अन्य सुहृदादिका भार कुलगुरुको सौंपा। मैं रथ सज्जित करके पहुँचा और मैंने प्रार्थनाकी। मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो गयी।'

'रथ उस दिन अत्यन्त मन्द गतिसे गया। सम्पूर्ण नगर प्रायः सूना हो गया था। नर-नारियोंकी तो कौन कहे, कुलगुरुके आश्रमके अन्तेवासी, मुनिगण तक रथके साथ हो गये। राज सदनमें अत्यल्प सेवक रह गये तथा कुलगुरुके आश्रममें भी गिने चुने लोग ही रहे।'

'हम सब वनमें रहेंगे। सब वहीं रहेंगे जहां हमारे श्रीराम रहेंगे। अवधके दर्शन अब चतुर्दश वर्ष पश्चात्।' सबका निश्चय दृढ़ था। मैं समझ ही नहीं पाता था कि सम्पूर्ण नागरिकोंके इस आग्रहके सम्मुख कोई भी क्या कर सकता है।'

'श्रीरामने समझानेका प्रयत्न किया ; किन्तु वह असफल रहा। कुमार, मैं सत्य कहूँगा—मुझे कुछ प्रसन्नता हुई थी। मुझे एक बार लगा, कदाचित प्रजाका यह आग्रह श्रीरामको लौटने पर विवश कर दे। यह कैसे सम्भव था कि दया धाम सम्पूर्ण प्रजाको वनमें ले जाते।'

'व्यर्थ थी मेरी आशा। कठिनाईसे हमारा रथ तमसा तट तक उस दिन गया। सब लोग श्रान्त हो चुके थे। सब निराहार—निर्जल थे उस दिन। श्री राम सानुज वैदेहीके साथ रथमें ही रात्रि विश्राम करते रहे। सभी साथ आये लोग भूमि पर ही बैठे और थकित होकर लेट गये। निद्रा तो किसी समय-असमयकी, सुस्थान-कुस्थानकी प्रतीक्षा नहीं करती। सबके

सब सो गये वहीं। श्रीराम मात्र-जागृत थे अपने अनुजके साथ और अर्धरात्रिमें ही उन्होंने मुझे सावधान किया—'पितृव्य ! कृपाकरके शब्द न हो तथा खोज न मिले—इस प्रकार रथ निकाल ले चलें। इन भाव-प्राण जनोंको कष्ट न हो, एक मात्र यही उपाय है।'

'मुझे आदेशका पालन करना पड़ा। खोज मारकर रथ निकाल दिया मैंने। बेचारे अवधवासी—प्रातः निराश होकर, इधर-उधर भटक कर, क्रन्दन करते लौट आनेके अतिरिक्त उपाय क्या था उनके समीप।'

'हमारा रथ दूसरे दिन शृङ्गवेरपुर पहुँचा। श्रीरामके सखा निषाद राज गुह कितने उत्साह पूर्वक स्वागत करने आये थे ; किन्तु उन्होंने जब बल्कलधारी श्रीरामको सहानुज देखा—भरतलाल ! हममें किसीसे कम वेदना नहीं थी निषादराजकी।'

'देव क्षुद्र है यह जन ; किन्तु धन्य हो जायगा इसका जीवन यदि आप इस निषादके पुरमें पधारकर इसके भवनको श्री चरणोंसे पवित्र करदें।' निषादराजने भूमि पर मस्तक रखकर बद्धाञ्जलि विनय की—चतुर्दश वर्ष अत्यल्प अवधि है। निषादोंका यह राज्य तो सदासे इन चरणोंका प्रसाद है। आज ही श्रीजनक नन्दिनीके साथ आप यहाँके सिंहासनपर विराजमान हों ! कुमार लक्ष्मण हमारा सेनापतित्व स्वीकार करें और दिग्विजयश्री तो आपके आशीर्वादसे आपके ये तुच्छ सेवक आदेश मिलते श्रीचरणोंमें अर्पित कर देंगे ! त्रिलोकी सुने—श्रीराम जहाँ हैं, वहीं त्रिभुवन सम्राट हैं।'

इतना सरल निवेदन—इतना सच्चा ओज पूर्ण भाव—न कहीं आडम्बर था, न कहीं कृतिम शिष्टता। निषाद राज इस प्रकार खड़े थे, जैसे अब उनका राज्य श्री रघुनाथका हो गया और वे सेवक मात्र हैं।

'मित्र !' विह्वल भावसे श्री रघुराथने दोनों भुजाओंमें भर कर गुहको हृदयसे लगा लिया। जिनके स्पर्शसे हम बचना चाहते हैं, स्पर्श हो जाने पर सचैलस्नानके बिना शुद्ध नहीं होते, उन निषादको श्रीरघुवंश भूषण हृदयसे लगाये थे और उनके पद्मपलाश लोचनोंके विन्दु निषादके केशोंका अभिषेक कर रहे थे। श्रीराम कह रहे थे—'सखा गुह ! तुम्हारा राज्य, गृह, स्वजन, परिवार, कोष और स्वयं तुम तो सदासे मेरे हो।'

'कुमार भरत ! श्री रामकी वाणी असत्यका स्पर्श नहीं करती। उन्होंने उस दिन सुरसरिके सम्मुख सम्पूर्ण निषादकुलको अपना कहा।'

"मित्र ! मेरे कर्तव्योंकी रक्षा तुम्हारा भी कर्तव्य है न ।" इस प्रकार बोल रहे थे श्री रघुनाथ, जैसे अनुनय कर रहे हों । लगता था, निषादराज कोई आग्रह कर लेंगे तो उसे अस्वीकार करनेमें वे अपनेको समर्थ नहीं पा रहे थे—पिताका आदेश मुझे है कि मैं वनमें रहूँ । चतुर्दश वर्ष नगर-ग्राममें जाना उचित नहीं मेरे लिये । तुम मेरे कर्तव्यका अनुमोदन करो भाई ।'

सरल हृदय निषादराज रो उठे । उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया । शिंशुपाके एक सघन वृक्षके नीचे कुश, किसलय एवं सुमन दलोंसे आस्तरण प्रस्तुत कर दिया उन्होंने और कन्द, मूल, फलादि ले आये । मेरे इन अभागे नेत्रोंके सम्मुख कन्द मूल आहार करके, श्रीरघुनाथ पल्लवास्तरण पर भूमि पर सोये । श्रीजनक नन्दिनी, अवधराज वधू वृक्षके नीचे, पृथ्वी पर लेटी थीं । उन्हें संकोच होगा, इसलिये मैंने पर्याप्त दूर रथ हटा लिया और रथके समीप ही बैठा रहा ।

निषादराजका आग्रह—वे चाहते थे—कि मैं उनके राज सदनमें चलूँ । श्रीराम जानकी वृक्ष मूलमें शयन करें और हमारे लिये भवन—हाय रे दैव !

कुमार लक्ष्मण धनुष चढ़ाये रात्रि भर वीरासनसे प्रहरी बने बैठे रहे और उनके पार्श्वमें उसी प्रकार शस्त्र सज्ज बैठे रहे स्वयं निषाद-राज । यद्यपि उनके सुभट सब कहीं सावधान सुरक्षाके लिये घूम रहे थे ।

ब्राह्म मुहूर्तमें ही श्रीरघुनाथ उठ गये । नित्य कर्मसे निवृत होकर, सन्ध्यादि सम्पन्न होनेके अनन्तर वट वृक्षका दुग्ध मँगवाया । सानुज श्रीरामने अपनी सुकोमल, घुँघराली अलकोंको उस दुग्धके सहारे जटा बना लिया । जिन अलकोंमें सुरभित तैल श्री महारानी स्वयं सावधानी-पूर्वक लगाती थीं, उन अलकोंमें वट क्षीर लगा !

अब वे त्रिभुवन भूषण सुरसरि समीप आये । उन्होंने मुझे अत्यन्त नम्रतापूर्वक लौट जानेका आदेश दिया ; किन्तु कैसे लौट जाता ? पद उठते नहीं थे । विवश बना उनके पीछे मैं भी तट तक गया ।

निषादोंका वह प्रेम ! कुमार भरत, उस निश्छल सरल प्रेमकी समता नहीं है । निषाद राजने जिस केवटको गङ्गा पार ले जानेको नियुक्त किया था, वह प्रातः श्रीरघुनाथसे आग्रह करने लगा—'आप दोनों भाई मुझे अपने श्रीचरण प्रक्षालित कर लेने दें, तब नौका पर विराजें !'

'आप मुझे चाहे जो दण्ड दें ! कुमार लक्ष्मण भले मेरा वध कर दें ! निषादराज मेरा सर्वस्व छीनकर मुझे निर्वासित कर दें ; किन्तु मैं श्रीचरण धोये बिना नौका तट पर लगा नहीं सकता ।' उसकी नौका जलमें कुछ दूर खड़ी थी और वह अद्‌भुत तर्क दे रहा था—'मेरे पास एक ही नौका है और यही मेरे पूरे परिवारकी आजीविकाका साधन है । सुना है आपकी चरण रजका स्पर्श करके कोई शिला मुनि पत्नी होकर आकाशमें उड़ गयी थी । पत्थरसे काष्ठ कोमल ही होता है । मेरी नौका भी स्त्री होकर आकाशमें उड़ जाय तो ? वह यहीं रहे स्त्री होकर तो भी मैं क्या करूँगा ? मैं तो एक का ही पेट नहीं भर पाता । नाथ, मैं अपनी नौकाको संशयकी स्थितिमें नहीं डालूँगा आपको मेरी नौका से जाना है तो श्रीचरण धोनेकी आज्ञा दें ! ये लक्ष्मण कुमार आपके अनुज ही हैं । कौन जाने इनकी चरण रजमें भी कुछ वैसा ही चमत्कार हो । चरण इनके भी मुझे धोने पड़ेंगे । यह आपको स्वीकार न हो तो निषाद राजके समीप नौकाओंका कहाँ अभाव है । मुझे आप क्षमा करें ।

निषाद राज हँस रहे थे और कह रहे थे—'पार तो तुम्हें ही ले जाना है ।'

अन्ततः श्रीरघुनाथने उसे अनुमति दे दी । कठौते भर जल ले आया वह और उसने जिस उमङ्गसे दोनों रघुकुल कुमारोंके पाद प्रक्षालित किये····चरणोदक उसने पान किया, स्वजनोंको पिलाया । निषाद राजको उसने प्रदान किया और पूरे घरमें छिड़क आया । इसके पश्चात् कहीं नौका उसने तटसे लगायी ।

श्रीजनकनन्दिनीको नौका पर चढ़ाकर जब श्रीराम चढ़ गये तब कुमार लक्ष्मण लालने त्रोण, धनुष, परशु आदि रखे और स्वयं बैठे । निषाद राज भी बैठ गये । मैं बद्धाञ्जलि तट पर खड़ा था । मैंने श्री चक्रवर्ती महाराजका सन्देश सुना दिया था । श्रीरामने मुझे आश्वासन देनेका प्रयत्न किया । श्रीजनक नन्दिनी उस विषम स्थितिमें सङ्कोच पूर्वक बोलीं मुझसे । उन्होंने वही कहा जो उन जैसी जगद्‌वन्दनीयाके उपयुक्त हैं । 'सबको प्रणति । वे वनमें सुखी रहेंगी । उन्हें भय नहीं है । अपने आराध्य एवं देवरकी उपस्थितिमें उनको भला भय कैसा । उनकी चिन्ता न की जाय । दैव सानुकूल रहा तो अवधि व्यतीत होने पर सास-स्वसुरकी सेवाका फिर सौभाग्य मिलेगा ।

श्रीरामने पुनः मुझे सन्देश दिया—'पितृ चरण जैसे प्रसन्न रहें, वह प्रयत्न जो करे वही मेरा परम प्रिय है । भाई भरतसे कहना, वे पिताका

आदेश स्वीकार करलें। प्रजाका पालन आवश्यक है। माताओंमें किसीकी उपेक्षा भी मुझे क्लेश देगी।'

मैं देखता रह गया। श्रीरघुनाथके संकेत पर नौका छूट गयी। देखता ही रहा मैं, जब नौका उस पार लगी। सब लोग उतरे। केवटने दण्डवत प्रणिपात किया। श्रीरघुनाथ चल पड़े भाई एवं मैथिलीके साथ। निषाद राज गुह भी साथ गये उनके। मैं कब तक खड़ा देखता रहा, मुझे स्वयं पता नहीं। केवट नौका लेकर लौट आया और तब वही मुझे तटसे हटा लाया।

आशा बड़ी मायादिनी है। मेरी दुराशा—मैं तट पर जाकर बैठ जाया करता प्रातः और रात्रिका अन्धकार फैलने तक जिधर श्रीराम गये थे, दृष्टि लगाये बैठा ररता। क्या परिणाम होना था? अन्ततः कई दिनके पश्चात् एकाकी निषाद राज आते दीखे। वे आये—'श्रीराम जनकनन्दिनी एवं लक्ष्मणलालके साथ वनमें चले गये। वे महर्षि अत्रिके आश्रमसे थोड़ी दूर पयस्विनी-मन्दाकिनी सङ्गम पर पर्ण कुटी बनाकर रहने लगे हैं।' हाय रे प्राण; यह सन्देश लेकर लौटना था मुझे अयोध्या।

अश्व तक लौटना नहीं चाहते थे। वे भी बार-बार मुड़ पड़ते थे और यह अभागा सुमन्त्र लौटा। निषाद राजने अपने सेवक साथ कर दिये, वे किसी प्रकार मुझे अयोध्याके समीप छोड़ गये। साहस नहीं पड़ा सूना रथ लेकर दिनमें नगर-प्रवेश करनेका—रात्रिका अन्धकार फैल जाने पर किसी प्रकार मैं आया नगरमें।

'भरतलाल! समस्त अपराध इस पापी अमात्यका है। यह अभागा यदि न लौटता, वन नहीं जा सका तो उधर ही कहीं मर खप जाता—कदाचित् श्रीचक्रवर्ती महाराजके प्राण अटके रहते इसके लौटनेकी आशामें!'

मुझे देखकर श्रीमहाराज कितने उल्लाससे उठे थे—'सुमन्त्र! राम कहाँ हैं? कहाँ हैं मेरे राम?' दीपककी वह अन्तिम भभक थी। राम कहाँ थे, महाराजने रामका सन्देश सुना। उन्हें श्रवणके अन्धे माता-पिताका शाप स्मरण आया और 'हा राम!' कहते उन अमर वन्दनीयके प्राण शरीर बन्धनने मुक्त हो गये।'

सुभद्र! महामात्यने यह सब कैसे सुनाया, सो मत पूछो। वे मूर्छित नहीं हुए, इतना ही बहुत हुआ। उनका विह्वल भाव, उनका शुष्क-पीत मुख, उनका क्रन्दन—मुझे भय हो उठा कि राजसभामें कहीं आज उनका यह अन्तिम वक्तव्य न बने; किन्तु कुलगुरुने उन्हें सम्हाल लिया।

'कुमार भरत ! महाराजने राज्य आपको दिया है । श्रीरघुनाथके वन चले जानेसे प्रजा अनाथ हो गयी है । उसे एक रक्षक चाहिए । श्रीरघुनाथने जाते-जाते आपके लिए सन्देश दिया है कि पितृ चरणोंका आदेश पालन करना चाहिए ।' महामात्यने कुछ समय रुक कर, अपनेको आश्वस्त करके कहा—'अतएव तात ! विषादका त्याग करो और सिंहासन स्वीकार करो ! प्रजाके संरक्षणका जो कर्तव्य आ पड़ा है, उसे स्वीकार करो । हम सब तुम्हारे आदेशका पालन करेंगे ।'

'वत्स भरत ! महामात्यका अनुरोध सम्पूर्ण प्रजाका अनुरोध है और दूसरा कोई विकल्प इस स्थितिमें हो नहीं सकता । प्रजाका संरक्षण इस समय तुम्हारा कर्तव्य बन गया है, अतः सिंहासन स्वीकार करो ।' कुलगुरु अपनी गम्भीर वाणीसे कह रहे थे—'श्रीरामके लौट आने पर राज्य उन्हें देकर तुम उनकी सेवा करना ।'

'मेरे लाल ! गुरुदेवका आदेश एवं महामात्यकी प्रार्थना स्वीकार करो ।' अत्यन्त स्नेह पूर्ण स्वरमें माँ कह रही थी—'इस समय विपत्ति मग्न प्रजाके पोतको सम्हाल लो कर्णधार बनकर ।'

मेरी समझमें कुछ नहीं आरहा था कि यह सब क्या हो रहा है । बुद्धि कुछ सोच नहीं पाती थी । श्रीभरतलालजी मस्तक झुकाये चुप बैठे थे प्रतिमाके समान । माताकी वाणी सुनकर उन्होंने मस्तक उठाया । उनके नेत्र लाल-लाल हो रहे थे मुख देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया—जैसे विषाद मूर्तिमान हो गया हो ।

'आप सब मेरा अपराध क्षमा करें । मैं सबसे छोटा होकर भी सबको उत्तर दे रहा हूँ ; किन्तु मेरी विवशता ·······' कण्ठ जैसे रुका पड़ता था—'आप सबने कभी सुना है कि रघुवंशके सिंहासन पर ज्येष्ठके रहते कनिष्ठ भाई बैठा है ? कलियुग आनेके लिए तो अभी द्वापरको व्यतीत होना पड़ेगा और आप चाहते हैं कि त्रेतामें ही पापकी जय-ध्वजा उड़े ? कैकेयीका कुत्सित सङ्कल्प पूरा हो, उसका कुपुत्र भरत सिंहासन पर बैठे—राज्य रक्षित होगा या रसातल चला जायगा ? मेरा दैन्य देखकर, मुझे श्रीरघुनाथका अनुज समझ कर आप सब मोहवश यह जो आग्रह कर रहे हैं—अधर्मकी, पाप सङ्कल्पकी, स्वार्थकी स्पष्ट विजय है उसमें ।'

'माँ ! श्रीराम जननि तो वात्सल्यमयी हैं । उनके लिए श्रीराम और भरत एकसे हैं ।' अग्रजके नेत्र वर्षा कर रहे थे—'वे अपनी अपार

करुणाके कारण कहाँ देखती हैं कि भरत कैकेयीका है । उन्हें तो लगता है—यह बच्चा दुःखी है, सिंहासन इसीको प्राप्त हो जाय !'

'किन्तु गुरुदेव !' सहसा अग्रजने कुलगुरुकी ओर मुख किया—'सर्वज्ञ, धर्मके परम संरक्षक, तप एवं तेजके साक्षात् विग्रह महर्षि भी मुझ अधमका अभिषेक करना चाहते हैं—मेरा अभाग्य ! दूसरी बात तो क्या होगी ?' हिचकियाँ बँध गयीं, कण्ठ अवरुद्ध होगया । सभा निस्तब्ध होगयी । यह कोई समझ नहीं पाता था कि अब क्या होगा ।

'आप सब मेरे हितैषी हैं । सब मेरा कल्याण चाहते हैं ।' सब ओर वे भरे-भरे नेत्र घूम गये—'तो मुझे आज्ञा दें । मुझे तो अपना हित श्रीरघुनाथकी चरण-सेवाको छोड़कर और कहीं दीखता नहीं । मैं चाहे जितना नीच, जितना अपराधी, जितना कुत्सित होऊँ मुझे पूरा-पूरा भरोसा है कि वे कृपा सागर मुझे क्षमा कर देंगे, मुझे अपना लेंगे ; जब मैं जाकर उनके चरणोंमें गिर पड़ूँगा । अतः आप सब मुझ पर दया करके अनुमति दें कि मैं कल प्रातः ही श्रीरघुनाथके समीप जानेके लिए प्रस्थान करूँ । अयोध्याका सिंहासन श्रीरामका है और उन्हींका रहेगा ! कुलगुरु चित्रकूटमें ही उनका अभिषेक करें ! भरतका कलङ्क और अभिशाप उन कमल-लोचनके पावन चरणोदकके बिना धुल नहीं सकता । दूसरा कोई मार्ग भरतके लिए नहीं ।'

'धन्य वत्स !' कुलगुरु वेगपूर्वक उठे और उन्होंने मेरे उन महान् अग्रजको हृदयसे लगा लिया । गद्गद् कण्ठसे वे कर रहे थे—'श्रीरामके अनुज एवं महाराज दशरथके कुमारके सर्वथा अनुरूप महानता है तुममें ।'

मैंने अपने स्थानसे ही अपने महान् अग्रजके श्रीचरणोंमें मस्तक झुका दिया । राजसभा गूँज रही थी—'श्रीभरतलालकी जय !' के तुमुल नादसे ।

'तात ! आपने हम सबको नूतन जीवन दिया ।' महामात्यका मुखमण्डल उज्वल हो उठा था—'अब अनुमति दो कि वनमें श्रीरामके अभिषेक सम्भारके साथ हम सब आपका अनुगमन करें ।'

आशङ्का, भय, विषाद एक क्षणमें दूर हो गये समस्त मुखोंसे । सब एक स्वरमें प्रशंसा कर रहे थे श्रीभरतलालकी ।

●●

१७–चित्रकूटकी ओर

हम दोनों भाइयोंके प्रति जो सन्देह, जो उदासीनता जन-मानसमें व्याप्त थी, वह जैसे एक क्षणमें विलीन हो गयी—भास्करोदयके पश्चात् तमकी भांति। वही स्नेह, वही आत्मीयता—अपितु अब जन-जन की जिह्वा श्रीभरतलालजीका गुणगान करते श्रान्त नहीं होती थी।

चित्रकूटको प्रस्थानकी बात कह देनेके समान ही प्रस्थान सरल नहीं था। तत्काल राजसभामें ही यात्राकी व्यवस्था का परामर्श चल पड़ा और महामन्त्री को कुलगुरुने समर यात्राके स्तर पर प्रस्तुति का आदेश दिया। महामात्य उसी क्षण व्यस्त हो गये।

वनमें ही श्री रघुनाथका अभिषेक करनेका विचार निश्चित हो गया था। अभिषेक-सामग्री तो प्रस्तुत ही थी, वह तब सफल नहीं हुई थी—अब सफल हो; किन्तु अवधके चक्रवर्ती सम्राट्का अभिषेक उसके अनुरूप भी तो होना चाहिये। नागरिक प्रमुख, प्रजा-प्रतिनिधि, मुनि-मण्डल न हो साथ तो अभिषेक सम्पन्न कैसे होगा और सैन्यके बिना कहीं सांगता सम्पन्न होती है राज्याभिषेककी। अभिषेकके पश्चात् सेनाधिकारियों, सैनिकों, राज्य कर्मचारियों, प्रजा प्रमुखोंका सम्राट् अभिवादन स्वीकार न करें, उनके श्री चरणोंमें यह समस्त वर्ग राजभक्तिकी शपथ ग्रहण न करे—अभिषेक सम्पन्न कहाँ हुआ?

विप्र वर्ग सम्पूर्ण ही चलनेको उद्यत था और उसे रोका नहीं जा सकता था। कुलगुरुने आदेश दे दिया—'तीनों राज मातायें साथ चलेंगी।' नागरिकोंमें प्रायः सभीका तीव्र आग्रह—श्री रामका सामीप्य किस अभागेको अभीष्ट नहीं होगा?

'तात! नगर, राज्य, कोष, पशुधन आदि सब श्री रघुनाथका है।' मेरी ओर देखा अग्रजने—'इनमेंसे सबकी सम्यक् रक्षा हमारा प्रथम कर्तव्य है। हम किसीको अरक्षित छोड़ जावें तो यह अपराध क्षम्य नहीं हो सकता।'

मुझे व्यस्त होना पड़ा इस व्यवस्थामें कि कहाँ-कहाँ, कितने लोग रक्षकके रूपमें रहेंगे और उनकी व्यवस्था कैसी रहेगी। महामात्यके कुमार

पर रक्षाका प्रधान भार पड़ा। हमारी यात्राके पश्चात् वे अवधकी व्यवस्थाके प्रधान सञ्चालक निर्णीत हुये।

कुल वधुओंको साथ ले जाना उपयुक्त नहीं जान पड़ा। उनको ले जानेसे जो प्रबन्ध करना पड़ता—इतनी शीघ्रतामें शक्य नहीं था और काननमें उनको अपार कष्ट भी होता! वृद्धाओंको उनकी रक्षा व्यवस्थाके लिये रहना चाहिये। इस प्रकार हमने महिलाओंमें माताओंके अतिरिक्त थोड़ी-सी सेविकायें मात्र उनकी सेवाके लिये साथ रखना निश्चित किया यात्रामें।

अन्तःपुर, नगर, पशु-शालायें, उपवन प्रभृति सबकी उचित व्यवस्था—उचित रक्षा हो, इतने राजसेवक रखने पड़े—रखने ही पड़े सुभद्र! क्योंकि स्वेच्छासे तो कोई अवधमें रहनेको प्रस्तुत नहीं था।

महामात्यने सैनिकों एवं मार्ग व्यवस्था करने वाले श्रमिकोंका एक पर्याप्त विस्तृत दल तत्काल आगे भेज दिया। उन्हें मार्ग प्रशस्त करना था। ऊँची नीची भूमि समतल करनी थी। संकीर्ण मार्गको सुविस्तृत करना था शीघ्रता पूर्वक वृक्ष, टीले एवं पर्वत काट कर। नदियों-नालों पर सेतु निर्मित करने थे अथवा नौकाओंकी प्रचुर व्यवस्था करनी थी। मार्गमें विस्तीर्ण भूमि, जलकी सुविधा, पशुओंके लिये तृणादि देखकर हमारे दलके आवासकी भी उन्हें व्यवस्था करनी थी और वहाँ तृण, शुष्क काष्ठ, प्रभृति अत्यावश्यक वस्तुओंका प्रथम-संग्रह रखना था।

अयोध्याकी दिग्विजयिनी महाध्वजिनीके अग्रचर इन सब कार्योंके चिर अभ्यस्त थे। अतः हमें मार्गमें कहीं कोई असुविधा नहीं हुई। हुआ तो यह कि उन्होंने शाक, फल, दुग्धादिकी इतनी प्रचुर व्यवस्था कर रखी थी कि हम उसका पूरा उपयोग नहीं कर सके।

महामात्यने यह व्यवस्था तत्काल कर दी थी कि महासैन्याभियानके समान अग्रचर यूथ प्रथम शिविरसे स्वतः दो भागोंमें विभक्त हो जायगा। उसका एक भाग आगे चलेगा और दूसरा छोटा भाग हमारे यूथके आगे चले जाने पर उस शिविरको पुनः स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित करके, रक्षक नियुक्त करके तब आगे बढ़ेगा, जिसमें लौटते समय नूतन व्यवस्था न करना पड़े। लौटते समय तो हमने शिविरोंकी अवशिष्ट सामग्री स्थानीय दीनजनोंके लिये ही छोड़ दी।

अग्रचर यूथको भेजकर महामात्यको इस प्रबन्धमें लगना पड़ा कि हमारे साथ किसके लिये कैसे वाहन, सेवक होंगे तथा साथमें कितनी सामग्री चलेगी। अवधकी महा सेनाको साथ चलना था, अतः रक्षा-व्यवस्था का प्रश्न नहीं रह गया था।

रथ, अश्व, गज एवं शिविकायें—इन सबको सज्जित करवा दिया महामात्यने। अश्वतरी, ऊँट, वृषभ-रथ आदिकी सुविशाल पंक्तियाँ नाना प्रकारकी सामग्री लेकर प्रथम ही प्रस्थित हो गयीं।

आर्य श्रीभरतलालजीको भी कहाँ अवकाश था। कौन-कौन चलेंगे उनकी यात्रामें कैसे व्यवस्था होगी, यह भार उन्होंने उठाया। अवकाश तो नहीं था कुलगुरुको। मुनि मण्डली एवं विप्रवर्गके वाहनादि एवं मार्गमें उनके आवास, अर्चन-पूजनादिकी व्यवस्थाका निरीक्षण उन्होंने स्वतः कृपा पूर्वक स्वीकार कर लिया था।

सुभद्र ! हमारा कर्तव्य था यह सब और हमने उसमें प्रमाद नहीं किया ; किन्तु हम यह व्यवस्था न भी करते—कोई रुष्ट न होता। मार्गमें कहीं किसीने किसी प्रकारकी असुविधाकी चर्चा नहींकी। हमने सेवक नियुक्त किये थे ; किन्तु वहाँ तो प्रत्येक जन सेवक बन गया था। प्रत्येक चेष्टा करता था कि उसे किसीकी भी—अपनेसे निम्नकी भी सेवाका कुछ अवसर प्राप्त हो। प्रत्येक जलादि सम्बन्धी सुविधा प्रथम दूसरोंको देनेका प्रयत्न करता था। अपनेसे किसीको किञ्चित भी असुविधा हो—यह तो सोचनेकी बात ही नहीं थी। प्रत्येक सावधान रहता था प्रतिपल कि वह किसीको भी कब क्या सुविधा दे सकता था।

इसका सुफल हुआ—अत्यल्प सामग्री आवश्यक हुई। स्नानादिमें कहीं किसीको कष्ट नहीं हुआ। हमने जब भी कोई शिविर छोड़ा—वह पर्याप्त स्वच्छ बना था।

* * *

वह रात्रि श्रीअवधमें अत्यन्त व्यस्त रात्रि थी। सभी प्रस्थानकी प्रस्तुतिमें लगे थे। श्री रघुनाथके दर्शनोंको सबके प्राण व्याकुल हो रहे थे।

प्रातः काल शीघ्र ही हमने प्रस्थान किया। हम दोनों ही भाई पैदल चल रहे थे। बहुत शीघ्र इसमें बाधा पड़ी। साथ-साथ अश्व लेकर चलने वालोंका आग्रह तो उचित ही था ; किन्तु सम्मान्यजनोंने भी आग्रह

प्रारम्भ कर दिया। लोगोंने अपने-अपने वाहन छोड़ने प्रारम्भ कर दिये कि 'हम भी पैदल चलेंगे।' अन्ततः माँ ने अपनी शिविका रोक ली और हम दोनों को समीप बुलाकर अश्व पर आरूढ़ होने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञा हमें स्वीकार करनी पड़ी। सम्पूर्ण समाज पैदल चले—यह कैसे स्वीकार किया जा सकता था।

दूसरे दिन से आर्य श्री भरतलालजीने यह नियम कर लिया कि सबको आगे चलाकर तब हम दोनों भाई चलते थे। इस प्रकार सबसे पीछे होने के कारण हम दोनों को पैदल चलने का अवसर प्राप्त हो गया।

* * *

हमारा अग्रचर-यूथ शृङ्गवेरपुर की सीमा पर ही हमें मिल गया। उससे हमें सूचना प्राप्त हुई—'आगे का मार्ग अवरुद्ध है। निषाद राज गुह युद्धके लिए प्रस्तुत होरहे हैं। उन्होंने सब नौकायें दूसरे तट पर भिजवादी हैं एवं उनके शूर शस्त्रसज्ज सन्नद्ध हो चुके हैं।'

अग्रचर यूथ को कहीं भी विग्रह करनेकी आज्ञा नहीं थी। वह अपने लिये आदेश की प्रतीक्षा में था। हम दोनों भाई चौक गये। हमारे एक मात्र आधार कुलगुरु थे—हम दोनोंने उनके चरणोंमें पहुँचकर परिस्थितिकी सूचना दी।

'निषादराज गुह युद्धके लिए सन्नद्ध हैं! धन्य हैं वे!' हमें अद्‌भुत लगा—महर्षि गद्‌गद् हो उठे, उनके नेत्र भर आये—'उनका सौहार्द्र एवं त्याग धरा का नित्य गेय रहेगा।'

हम समझ नहीं पा रहे थे कि हमारे सर्वज्ञ सर्वसमर्थ कुलगुरु निषाद राज की अकस्मात् क्यों प्रशस्ति करने लगे हैं। अभी श्री अवधसे प्रस्थान करनेसे पूर्व हम दोनोंके सम्मुख अवधके रक्षकों को कुलगुरु ने अभय वचन दिया था—'तुम लोग निर्भय रह सकते हो। जब यजमान आपत्ति ग्रस्त होता है, पुरोहित को अपना पौरोहित्य सम्हालना पड़ता है। अयोध्या परित्राताओंसे रहित है, जो मूर्ख यह समझ कर आक्रमण का साहस करेगा—वशिष्ठ उसे क्षमा नहीं कर सकता। वह देखेगा कि वशिष्ठ की होम-धेनु केवल दूध नहीं देती। अयोध्या की रक्षा इस समय नन्दिनीके ऊपर है और उस कामधेनुसे मैंने प्रार्थनाकी है कि वशिष्ठके लौटने तक वह इस दायित्वका निर्वाह करले। नन्दिनी—उसकी एक हुँकारमें प्रतिपक्ष भस्महो सकता है।' यह आश्वासन देनेवाले कुलगुरु युद्धोद्यत निषादराजकी जब इस—प्रकार प्रशंसा करते हों…… …।

'कुमार भरत ! भय मत करो। युद्ध सम्भव नहीं है। निषाद-राजको कुछ भ्रम हुआ है।' कुलगुरुने हमें प्रतीक्षा करनेकी आज्ञादी।

उन सर्वज्ञके वचन तत्काल प्रत्यज्ञ हुए। हम वहाँसे हट भी नहीं सके थे - निषादराज पधारे हैं, यह सूचना प्राप्त हुई। अपने साथवे उपहार ले आयें थे—निषादोंकी पंक्तियाँ उनके पीछे कन्धों पर, सिर पर उपहार भार लिए चली आ रही थीं।

'वत्स भरत ! निषाद राज श्रीरामके सच्चे सखा हैं !' कुलगुरुने हम दोनोंको इतनेमें ही सूचित कर दिया कि हमें क्या करना है ?

भूमि में दण्डवत् प्रणिपात करके निषाद राज पिताके साथ अपना नाम लेकर अभिवादन कर रहे थे। आर्य श्री भरतलालजी दौड़े और उन्होंने दोनों भुजाओंमें भरकर उठा लिया गुह को। हृदय से लगा लिया उन्हें। जिन्हें श्री रघुनाथने हृदयसे लगाया था, उन्हें अङ्कमाल देकर पवित्र होनेका सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ।

देववन्द्य हमारे कुलगुरु ने जब उन्हें उठाकर हृदयसे लगाया—देवता भी धन्य-धन्य कर उठे। निषादराजने माताओंको अभिवादन किया और बड़े सम्मानपूर्वक वे हम सबको लेकर नगरकी ओर चले।

* * *

निषादराजके अनुगामी उनके संकेत पर तत्काल हमारे स्वागत-सत्कारमें लग गये थे। वे प्रत्येक के लिये उचित आवासकी व्यवस्था करनेमें जुट गये थे। हमारे अग्रचर यूथ को उनकी शतशः तरणियाँ जाह्नवीके उस तट पर पहुँचाने लगीं।

हमें एक भी निषाद शस्त्रसज्ज नहीं मिला। सबने अपने शस्त्र शीघ्रता पूर्वक छिपा दिये होंगे; किन्तु उन सबका वेश कहता था कि ये अभी-अभी शस्त्रसज्ज अवश्य रहे होंगे। उनकी कछनियाँ उनके शिरोवस्त्र उनकी सज्जा⋯ ⋯⋯।

मैंने एकान्त में हँसी में पूछ लिया अवसर मिलने पर निषाद राज से—'आपके शूर सुना शस्त्रसज्ज हुये थे ?'

'हम अन्ततः मूर्ख निषाद ही तो हैं। हमारी धृष्टता आपको क्षमा कर देनी चाहिये।' निषादराजने बिना अप्रतिभ हुये कहा—'सुरासुर विजयनी अवध की राजवाहिनीसे संग्राम में जयकी आशा करलूँ, निषाद होने पर भी इतना मूर्ख नहीं हूँ राजकुमार ; किन्तु मेरे स्वामी भगवती

जनक नन्दिनीके साथ वनमें हैं। मुझे सावधान तो रहना है कि उनको कष्ट देनेके कुटिल उद्देश्यसे कोई मेरे घाटसे ही पार न उतर जाय।'

'यदि हममें हमारे किसी दुर्भाग्य से वैसी कुबुद्धि आगयी होती?' मैंने पुनः पूछ लिया।

'उसका उत्तर तो कुमार लक्ष्मण देनेमें समर्थ हैं' निषाद राजके मुख पर गम्भीर रेखायें उठीं—'हम छुद्र निषाद अवधके शूरोंसे जीतनेकी आशा नहीं कर सकते; किन्तु यह कलङ्क भी तो हम नहीं ले सकते कि हमारे जीवित रहते कोई स्वामीके प्रति कुभाव रखकर हमारा घाट उतर गया। स्वामीकी सेवा एवं सुरसरिका पावन तट, श्री अवधके शूरों का साक्षात्कार—मरणके लिये इससे पवित्र निमित्त हमें क्या और मिलना था?'

'कुमार, सुना है हम निषादोंके आदि पुरुष महाराज पृथुके अग्रज हैं।' निषादराजने दो क्षण रुककर कहा—'हम तो सदा आपके तुच्छ सेवक हैं; किन्तु निषाद भी आप सबके समान ही मृत्यु से भय करना नहीं जानते। कोई प्रतिपक्ष बन ही जाय—उसे ज्ञात हो रहेगा कि निषाद शत्रु होकर कितना भारी पड़ता है।'

यह ओजस्विता, यह विश्वास एवं श्री रघुनाथके लिये सर्वस्व—प्राण त्याग तक की यह प्रस्तुति—कुलगुरु क्यों निषाद राजकी प्रशस्ति करने लगे थे, यह अब मुझे समझना शेष नहीं था।

हमने निषादराजसे अनुरोध करके उस शिंशुपा (शीशम) तरुके दर्शन किये, जिसके नीचे श्री रघुनाथने भगवती धरा नन्दिनीके साथ रात्रि-विश्राम किया था। हमने वहाँ दर्शन किये निषाद राज गुहकी निर्मल आस्थाके। वह कुशास्तरण, वे पल्लव एवं सुमन—वह पूरी साथरी निषाद राज की जैसे आराध्य होगयी हो। वह ज्यों की त्यों सुरक्षित थी। उसमें से एक तृण, एक पल्लव भी इतस्ततः न हो जाय, इसकी उन्होंने व्यवस्था कर दी थी और वह साथरी सुरक्षित रही—बराबर सुरक्षित रही।

कुशोंके ऊपर का पल्लवास्तरण शुष्क होकर म्लान हो गया था। सुमनोंके सुकुमार दल—उनमें वह मार्दव एवं कान्ति कोई कैसे सुरक्षित रख सकता है; किन्तु प्रत्येक दल, पल्लव ज्यों का त्यों उसी रूपमें पड़ा था, जिस रूपमें श्री रघुनाथ उसे छोड़ गये थे।

निषाद गण वहाँ भूमि में प्रातः सायं मस्तक रखकर प्रणिपात करते थे। निषाद बालायें वहाँ रात्रिमुखमें प्रदीप रख जाया करती थीं।

परोक्षसत्यसे उसका प्रत्यक्ष रूप कितना दारुण होता है सुभद्र ! हम जानते थे कि श्रीरघुनाथ वनमें भूमि शयन ही करते होंगे ; किन्तु यह साथरी—रघुकुलके मुकुट मणि एवं अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट्की कुल-वधू हम सबकी आराध्या इस प्रकार वृक्ष मूलमें पत्तों पर रात्रि व्यतीत करती हैं। हाय रे भाग्य !

* * *

प्रातः हमारा पूरा समुदाय एक ही बारमें सुरसरि पार हो गया। निषादराजने रात्रिमें ही सब व्यवस्था कर ली थी। शत-सहस्र तरणियोंका समुदाय ! सुसज्जित, सर्वथा मर्यादानुरूप तरणियाँ। अब आगे तो निषाद-राज हमारे मार्ग दर्शक हो गये थे। वे आग्रह पूर्वक हमारे साथ होगये।

हम दोनों भाई सबसे पीछे पैदल चल रहे थे। निषादराजको कहाँ वाहनकी अपेक्षा थी। उनका सङ्ग हमारे लिये अत्यन्त आह्लादकारी होगया। वे परमोल्लास पूर्वक मार्गमें हमें सुनाते चले कि किस प्रकार श्रीरघुनाथने यात्रा सम्पन्नकी। वन्य ग्रामीणोंने किस प्रकार उनका दर्शन किया और अब वे चित्रजूटमें कहाँ किस प्रकार निवास करते हैं।

निषादराजके जन प्रायः चित्रकूट पहुँचते रहते थे। श्रीरघुनाथको फल, कन्द, मूलादिकी प्राप्तिमें कठिनाई न हो, इसकी व्यवस्था निषादराजने स्वयं सम्हाल रखी थी। उनके मुखसे उसे सुनते हमें पता ही नहीं लगा कि पथ कैसे पार होगया। हमारे पदोंमें फफोले झलमला आये ; किन्तु यह तो हमें प्रयागमें विश्रामके समय पता लगा।

प्रयागमें महर्षि भरद्वाजने हमारा आतिथ्य किया। वे परम सिद्ध, तपोधन, लोकवन्द्य—उनका अनुरोध, वह तो हमारे लिए आदेशसे भी अधिक था। हमें चाहे जितना संकोच हुआ—उस आतिथ्यको अस्वीकार तो कैसे किया जा सकता था।

महर्षि भरद्वाज परम वीतराग, निष्परिग्रह तपस्वी—उनके आश्रममें श्यामकादि मुन्यन्न, कन्दमूल, बहुत हुआ तो वन्य फल, मृगचर्म, वल्कल जलपात्रके नाम पर तुम्बिकायें—इससे अधिक की तो कोई आशा कैसे कर सकता है ; किन्तु इस प्रकारके वीतराग निष्परिग्रहके संकल्पमें किस प्रकार त्रिभुवनकी विभूति निहित होती है, इसका हमने उस दिन प्रत्यक्ष किया।

महर्षिने संकल्प मात्र किया होगा। उन्हें सम्भवतः अयोध्याके राजकुलका उसके अनुरूप आतिथ्य अभीष्ट था। सुभद्र ! क्षण भरमें वहाँ स्फटिक सौधोंकी पंक्तियाँ प्रस्तुत हो गयीं। उनकी रत्न भूमि, मरकत भित्ति, वज्र स्तम्भ छटा, उनके हैमासन, पद्मराग निर्मित शय्यायें, वैडूर्य वापियाँ—आखण्डलपुरमें एवं महेन्द्र सौधमें भी इस सुषमाकी कल्पना नहीं की जा सकती।

हममें-से प्रत्येकको—सेवकों तकको एक पृथक सदन दिया महर्षिने। उन सदनोंमें निपुण सेवक, सर्वाभरण-भूषिता अपरूप रूप सम्पन्ना सेविकायें—सुरदुर्लभ समस्त उपकरण ! वे सेवक, वे सेविकायें मानवाकार होने पर भी मानव तो थीं नहीं। उनका सौन्दर्य सौकुमार्य शील—वे समस्त आवश्यक पदार्थ लिये परम नम्र प्रस्तुत ही मिलती थीं प्रतिक्षण।

हमारे लिये यह साज सज्जा, यह वैभव, ये सुखोपभोग, यह विलास वैभव—क्या महत्व था इसका ! हममेंसे कदाचित् ही किसीने कुछ कन्द-फलोंको छोड़कर आहार किया हो। शृङ्गवेरपुरके शिंशुपा मूलकी वह कुश साथरी—वह तो नेत्रोंके सम्मुख ही लगती थी। हमारे आराध्य वनमें भूमि पर पत्ते बिछाकर पड़े होंगे—हमें शय्या सुखद लग सकती थी सुभद्र ? इस वैभवने तो हमारे चित्तको अधिक क्षुब्ध ही किया। रात्रिमें नेत्र लगे नहीं। चित्रकूट—चित्रकूटकी पर्णकुटी—प्राणोंको दूसरा कुछ सूझता नहीं था।

❀ ❀ ❀

प्रयागमें प्रातः त्रिवेणी स्नान करके हमने महर्षिसे अनुमति प्राप्तकी। यमुना पार होनेकी सुव्यवस्था भी निषादराजने रात्रिमें ही कर दी थी। अब हमें आगे वनकी यात्रा करनी थी।

हमें भी वन्य ग्रामोंके नर-नारी मार्गमें मिले। वे अपने घरोंसे समस्त कार्य छोड़कर मार्गके समीप आ खड़े होते थे। केवल कुतूहल नहीं था उनमें, कुछ और भी था; किन्तु हमारे साथ पर्याप्त दल था। अश्व, रथ, गज, सैनिक—वे भोले ग्राम्यजन, उन्हें इस भीड़-भाड़से अत्यधिक संकोच होता था। उन्होंने हमारे समीप आकर कुछ कहनेका साहस नहीं किया।

उनके मलिन वस्त्र, रूक्ष केश, कज्जल कृष्ण वर्ण; किन्तु कितना उज्वल, सुस्निग्ध, पवित्र हृदय था उनकी उस कृष्ण कायाके भीतर। अनेकोंने हमें आते देखकर पथ-पार्श्वमें जल पूरित कलश रख दिये। बहुतोंने

वृक्षोंके नीचे तृणास्तरण बिछाये। कुछने पत्रपुटकोंमें वन्य फल, कन्दमूल, अंकुरादि सज्जित करके जल-कलशों के समीप रखे। वे हमारा आतिथ्य करना चाहते थे, यद्यपि हमारा वैभव उन्हें हमारे समीप आनेमें संकुचित करता था।

–:०:–

१८–चित्रकूट

निषाद राजने हमें दूरसे दिखाया चित्रकूट का शिखर। सुभद्र! चित्रकूट सचमुच कामदगिरि हैं। इतना दिव्य, इतना पावन प्रभाव—हमने भूमि में पड़कर प्रणिपात किया उन्हें। सम्पूर्ण पथमें ही आर्य श्री भरतलाल जी भाव-तन्मय आये थे। उनके श्वास-श्वास से 'राम' निकल रहा था। उनके पद कहाँ पड़ते हैं, कैसे पड़ते हैं—उन्हें स्वयं पता नहीं था। अविरल अश्रु प्रवाह, रोम-रोम से झरता स्वेद प्रवाह, पूरा शरीर स्थिर रोमाञ्चित—मैं अपने उन महान अग्रज का अनुगमन करके धन्य होगया। चित्रकूटके दर्शन करके तो मुझे भी भूल गया कि मैं कहाँ हूँ, क्या कर रहा हूँ, कहाँ जा रहा हूँ।

हम सबने पूरे समाज को कुछ दूर ही ठहरा दिया। अग्रजके साथ देनेका सौभाग्य उस दिन महा-सौभाग्य बन गया। केवल निषाद राज थे साथ; क्योंकि पथ-परिचय उन्हें ही था।

अकस्मात् उन्होंने कहा—'वह वट वृक्ष—उस धन्य तरु के नीचे ही श्री रघुनाथ इस समय मुनि-मण्डलके मध्य श्री जनक नन्दिनीके साथ विराजमान होंगे।'

हम नहीं जानते कि हम आगे कैसे गये। हमें तब किञ्चित् स्थल भास हुआ, जब हमने देखा कि उस दिव्य तरु मूल में उच्च प्रशस्त वेदिकाके मध्य तपः कपिश जटा पुञ्जधारी तेजोघन ऋषि-मुनियोंके मध्य वे जटा मुकुटी, वल्कलाम्बर, ऐणेयाजिनोत्तरीय, नव जलधर श्याम परात्पर पुरुष, स्कन्ध पर धनुष धरे, पृष्ठ पर त्रोण कसे, वामकर में लीलापूर्वक एक शर लिये स्थिर आसीन हैं। उनके वाम पार्श्व में स्थिर विद्युदाभास, जगन्माता विराजमान हैं एवं करबद्ध सम्मुख स्थित मेरे सहोदर अग्रज को वे परम पुरुष कुछ उपदेश कर रहे हैं।

साक्षात् ज्ञानघन, मूर्तिमती भक्ति देवीको साथ लिये, शत-शत वैराग्य रूपोंके मध्य विराजमान जैसे अभीप्सा एवं अधिकारके अधिष्ठाताको उपदेश करते हों—वह शोभा, वह लोकोत्तर दिव्य झाँकी—मेरे कण्ठने सम्भवतः आर्यके साथ ही पुकार की—'नाथ पाहि ! स्वामिन्, त्रायस्व !' शरीर स्वतः गिर पड़ा पृथ्वी पर।

उन विश्व शरण के प्रलम्ब बाहु सम्मुख प्रणत को उठा लेने में कभी बिलम्बित हुये ही नहीं। उन्होंने हमें उठाकर हृदय से लगा लिया—लगाये रहे। धन्य हो गया जीवन।

हमने पीछे देखा—वे करुणामय अस्त व्यस्त दौड़ आये थे हमें उठाने ! उनका उत्तरीय, त्रोण, धनुष, शर—सब इतस्ततः पड़े थे पृथ्वी पर। हमने जब प्रणिपात किया, हमारी ओर उनका पृष्ठ भाग था। मेरे अग्रज ने हमें देख लिया था और प्रणत प्राणियोंको श्री चरणोंमें उपस्थित कर देना तो उनका नित्य स्वभाव है। मुझे अपने उन सहोदर अग्रजके चरणोंकी बन्दनाका सौभाग्य मिला।

* * *

हम दोनों भाइयोंने भगवती धरा नन्दिनीसे पादपङ्कजों में मस्तक रखा। उनका स्नेहाशीर्वाद तो हमारा सदा स्वत्व रहा है। आर्य श्री भरतलालजीने निवेदन किया—'मातायें, पुरजनादिके साथ कुलगुरु पधारे हैं।'

'कुमार ! तुम अपनी भाभी के समीप रहोगे।' श्री रघुनाथ त्वरा-पूर्वक चल पड़े। शेष सबने उनका अनुगमन किया। मुझे अपनी आराध्या के समान भाभी का सान्निध्य प्राप्त हुआ कुछ क्षणोंको।

'कुमार ! इतने म्लान मुख हो तुम ?' उन वात्सल्यमयीकी सशङ्कवाणी श्रवणमें पड़ी—'कुशल तो है ?'

'आप यहाँ—इस घोर काननमें हैं और कुशल !' मैं फफक कर रो उठा और गिर पड़ा उनके श्री चरणोंमें—'इससे अधिक भी अकुशल हमारे लिये और कुछ है ?'

'छिः कुमार ! पुरुष होकर, शूर होकर तुम बच्चों की भाँति रोते हो ?' उन्होंने स्नेह पूर्वक मुझे झिड़का-- 'देखो, मैं तो प्रसन्न हूँ। स्वस्थ हूँ। मुझे हुआ क्या है।'

'आप एवं आर्य वनमें आ बसे हैं ! हम अनाथ हो गये—हमारा अब कौन रहा रक्षक जगती में ।' मेरा कण्ठ शब्द स्पष्ट करने में समर्थ नहीं हो रहा था—'अवध अनाथ करके आप यहाँ—पिता परम धाम चले गये और............... ।'

'क्या ?' एक क्षण मेरी बात समझ में नहीं आयी और जब आयी, वे करुणामयी सहसा मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं ।

रुदन, क्रन्दन—हम अभागोंके पास और रह क्या गया था । हम पीड़ा ही तो उपहारमें देने आये थे यहाँ ।

* * *

श्री रघुनाथ सबको साथ लेकर लौटे । आश्रम रुदन से भर उठा । माताओंके चरणोंमें जब उन श्री विदेह-नन्दिनीने मस्तक रखा—दारुण क्रन्दनसे दिशायें भी रो उठीं । सुभद्र ! तुमने सुना है कि पाषाण पिघलते हैं, सचमुच हमारी वेदनासे उस दिन पाषाण पिघल गये और अबतक चित्रकूट की शिलाओं पर हमारे उस दिनके पद चिह्न प्रत्यक्ष हैं ।

'वे युग-युग तक मानवों को पावन करते रहेंगे देव !' सुभद्र ने सादर मस्तक झुकाया ।

पूरा समाज मन्दाकिनीके तट पर आगया । श्री रघुनाथने सानुज सचैल स्नान किया । श्री मैथिलीको लेकर माताओं का स्नान हुआ । पूज्य पितृ चरणोंको जलाञ्जलि दी श्री रघुनाथने और पिण्ड अर्पित किये विधि पूर्वक । सुभद्र—जिनके चरणोंमें देवधानीका वैभव लुण्ठित होकर धन्य बनता था, हमारे उन त्रिलोक पूजित पिता को उनके ज्येष्ठ पुत्रके करोंसे—परात्पर पुरुष, निखिल ब्रह्माण्ड नायक श्री राम के करों से इंगुदी के कटु-कषाय अग्निपक्व फलोंके पिण्ड अर्पित हुये—हाय रे दुर्दैव ! कन्द, मूल एवं जो फल अग्निपक्व नहीं होते थे—वे पिण्डदान के अयोग्य थे और जब कुलगुरुने आदेश दिया—'यदन्नो पुरुषो भवति तदन्नं तस्य देवता !' हे भगवान् ! ये इंगुदी फल आहारमें लेने पड़ते हैं श्री रघुनाथ एवं विदेह राजनन्दिनी को ? इससे दारुण दुःख हमें और क्या मिलना था ।

आहारकी चर्चा व्यर्थ है । श्री रघुनाथको भाईके साथ निरम्बु व्रत करना था उस दिन और दूसरे किसीका भी चित्त इस स्थिति में कहाँ था कि कोई जल ग्रहण करता ।

दिशायें बार-बार आर्त क्रन्दनसे व्याप्त हो उठती थीं। मुनि गण स्थान-स्थान पर लोगों को समवेत एवं पृथक-पृथक उपदेश देकर आश्वस्त करनेमें लगे थे। आवास या विश्राम का ध्यान कहाँ किसे था। वह दिवस एवं रात्रि—कदाचित प्रलय रात्रि भी इतनी दारुण नहीं होती होगी।

दूसरे दिन प्रातः कृत्य, स्नान-सन्ध्यादिसे सबके निवृत्त हो जाने पर श्री रघुनाथने कुलगुरुके चरणोंमें उपस्थित होकर संकोचके साथ निवेदन किया—'कल सब लोग निर्जल रहे हैं।'

'यहाँ अन्नाहार तो उचित नहीं।' कुलगुरुने सबके हृदयकी बात कही—'आप व्यस्त न बनें। आश्रम पधारें आप। सबकी व्यवस्था अभी हो जायगी।'

सेवकोंको भी कोई श्रम नहीं करना पड़ा। उपयुक्त स्थल देख देखकर स्वतः लोगोंने अपने शिविर स्थापित कर लिये। दो घड़ीमें पूरा समाज व्यवस्थित हो गया।

श्री रघुनाथ निखिल ब्रह्माण्ड नायक हैं, यह बात मैंने ऋषि-महर्षियोंके मुखसे अनेक बार सुनी है। वे जहाँ रहें, वहीं त्रिभुवन धनी हैं। उस काननमें हमने इस सत्यको प्रत्यक्ष कर लिया।

समस्त लतायें पुष्पित—पुष्प परिपूरित। समस्त तरु वृन्द सुपक्व फल भारसे झुके। अरण्य धरा जैसे सुमधुर कन्द, मूल एवं अंकुरोंसे आच्छादित होगयी थी। हम अनेक तरु, लता, वीरुध एवं औषधियोंसे सुपरिचित थे। हम भली प्रकार जानते थे कि उनके पुष्पित-फलित हानेका समय अभी कहीं समीप नहीं; किन्तु चित्रकूटके काननमें तो जैसे ऋतु-अनऋतुका प्रश्न ही समाप्त होगया था।

अरण्यानी मानव कितने रूक्ष, शूर एवं निष्ठुर होते हैं, तुमसे अविदित नहीं है सुभद्र ! निरन्तर संघर्षमय जीवन उनका—मृत्युका कोई मूल्य नहीं उनके सम्मुख। किसीका वध उनके लिये एक सामान्य घटना होती है। चक्रवर्ती सम्राटोंकी सैन्य भी उनके आवास बचाकर ही यात्रा करती है और हमने देखा—वे कोल, किरात, भील जैसे प्राण देनेको प्रस्तुत हैं श्री रघुनाथके संकेत मात्र पर। उनका जन-जन प्रतिपल समुत्सुक है—कोई छुद्र सेवा उसे प्राप्त हो जाय।

हमारे शिविर व्यवस्थित भी अच्छी प्रकार नहीं हुए थे कि वन्य मानवोंका समुदाय आ पहुँचा। उनमें तरुण, वृद्ध-बालक, नर, नारी सभी

थे। सबके सिर एवं कन्धों पर टोकरियाँ थीं। सब टोकरियाँ भरी थीं। सुपक्व भल, सुमधुर कन्द, सुस्वादु अंकुर—उन लोगोंसे अधिक ज्ञान इन कन्दमूलादि का दूसरे किसीको कैसे हो सकता था और वे अपने सर्वोत्तम संग्रह ले आये थे।

छोटे-छोटे बालक-बालिकायें, अर्ध नग्न अथवा सम्पूर्ण नग्न। पुरुषोंके शरीर पर भी कौपीन मात्र। कज्जल कृष्ण वर्ण, रूक्षकेश; किन्तु कितना उज्वल, कितना स्निग्ध होगया था उनका अन्तर श्री रघुनाथ का सान्निध्य प्राप्त करके। उनकी संख्या—उनकी पंक्तियाँ तो समाप्त होने को ही नहीं आती थीं।

उनके लिये सब शिविर समान थे। जिसे जो शिविर ऐसा दीखा कि वहाँ उनके लोग कम पहुँचे हैं, वह वहीं दौड़ गया—'आप मेरी टोकरी स्वीकार कर लें।'

उन्होंने स्वीकृतिकी अपेक्षा नहीं की। अपनी टोकरियाँ उतारीं और और धर दीं शिविरोंके सम्मुख और भूमि पर मस्तक रखकर प्रणाम किया। उन्हें बोलना कम आता है। मूल्य देनेका प्रयत्न करने पर उन्होंने कह दिया—'हम आपकी पत्तलसे बचा प्रसाद ले लेंगे।'

हममें अनेकोंने—प्रायः सबने बिना मूल्यके उन पदार्थों को लेना अस्वीकार करना चाहा; किन्तु वे भोले प्राणी लौटाले जानेके लिये तो टोकरियाँ लाये नहीं थे। वे कहते थे—'श्री रामकी शपथ! उन्होंने हमें अपना सेवक स्वीकार करनेकी कृपाकी है। आप उनके स्वजन हैं। आपको यह लेना पड़ेगा।'

'हम आपके वस्त्र, बर्तन न चुरा लें यही हमारी बड़ी सेवा' उनमें कुछ वृद्धोंने कहा—'जीवोंकी, हत्या करके किसी प्रकार पापी पेटको हम भर लेते हैं। श्री राम यहाँ पधारे और उन्होंने हम अधमों पर अनुग्रह किया। हमें उन्होंने अपनी सेवा का सौभाग्य दिया। उनके स्वजन होकर आप लोग हमें इतनी सेवा भी नहीं करने देंगे, यह कैसे हो सकता है?'

हमारी स्वीकृति का उनके सम्मुख महत्व भी कहाँ था। वे कुछ क्षण कुतूहलपूर्वक हमको, हमारे शिविर को देखते रहे और फिर टोकरियाँ छोड़कर बन में भाग गये। वैसे उनके बालक जब तक हम रहे, प्रायः हमारे शिविरों के समीप ही कुतूहलवश एकत्र रहे। गज, रथ एवं अन्य उपकरण उनके लिये अद्भुत दर्शनीय थे।

वन्य मनुष्योंकी बात ही नहीं, कपि, मृग, ऋक्ष आदि पशु--केहरी तक हमने देखा, गृह पशुके समान सरल, क्रूरता रहित हो रहे हैं वहाँ और वे भी चाहते हैं कि अपनी चेष्टा एवं उद्योगसे हमारी प्रसन्नता सम्पादन करें। त्रिभुवनके नाथ जहाँ विराजमान हों, सचराचर प्रकृति उनकी सेवामें संलग्न दीखे—यह स्वाभाविक ही था।

* * *

श्री रघुनाथकी पर्णकुटीके सम्मुख, बट वृक्षके नीचे प्रशस्त वेदिका पर अल्प विश्राम एवं फलाहारके अनन्तर अवधसे आया समाज एकत्र हुआ। कुलगुरु ही हमारे परमाश्रय हैं। उन करुणाधामने एक प्रकारसे हमारी प्रार्थना स्वयं कह सुनायी। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'भरत का अनुपम प्रेम सर्वोपरि है। उसका सम्मान अवश्य होना चाहिये।'

इससे अधिक कुलगुरु और क्या कहते? श्री रघुनाथ सदाके शील निधान, परम संकोची हैं। उन्होंने तत्काल कह दिया—'गुरुदेव की आज्ञा मुझे शिरोधार्य करना चाहिये। भरत मेरे प्राणोंके समान हैं। वे कहें—उनके आग्रह मान लेनेमें ही मुझेभी सर्वथा हित दीखता है।'

आर्य भरत क्या कहें? इतना संकोच--इतना बड़ा उत्तरदायित्व आ पड़ा; किन्तु उस समय कोई निर्णय हो, कुछ अधिक चर्चा चले, इसका अवसर नहीं मिला। सहसा मिथिला नरेशके चर आ गये और उन्होंने समाचार दिया--वे विदेह राज स्वयं अपने समाज के साथ पधारे हैं। हम दोनों भाइयोंको बड़ा आश्वासन मिला। वे पितृतुल्य ज्ञानराशि—हमें तो जैसे पितृपदोंका संरक्षण पुनः प्राप्त हो गया।

कुलगुरु एवं श्री रघुनाथके साथ हम सब महाराजको आगेसे लेने उठ पड़े। सुभद्र! उस मिलन का वर्णन न करना अच्छा। दोनों समाजोंने परस्पर एक दूसरेको देखा और जैसे हमारी सम्पूर्ण वेदना नवीन हो उठी। श्री रघुनाथ का यह जटा मुकुट एवं वल्कलाम्बर देखकर तो वज्र हृदय भी विदीर्ण हो जायगा। रुदन, क्रन्दन, मूर्छा—अश्रु प्रवाहको छोड़कर और हमारे समीप बचा ही क्या था।

* * *

सुभद्र! हमारी आशा व्यर्थ थी। बड़ी छलनी है यह आशा। महाराज मिथिला नरेश, कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ अथवा दूसरा भी कोई क्या करता! हम दोनों भाईयोंके समीप ही क्या उपाय था। आर्य श्री भरतलाल जी ने सोल्लास कह दिया—'श्री रघुनाथ लौटें और वनमें ही किसीका रहना आवश्यक माना जाय तो हम दोनों आजीवन वनमें ही रहेंगे।'

माता कैकेयी—उनसी दीना, उनसी हत भागिनी, उनसी दुखिया और कौन होगी धरा पृष्ठ पर। उन्हें मुख खोलते भी भय लगता था—'कोई व्यंग कर देगा।' श्रीरघुनाथने उनका सर्वाधिक सम्मान किया। भगवती श्रीधरा-नन्दिनी अधिकांश समय चित्रकूटमें उन्हींकी सेवामें रहीं। यह सेवा, यह शील, यह सम्मान—माताका हृदय कितना विदीर्ण होता था अपनी भूलको स्मरण करके।

'राम! मैं तुमसे क्षमा नहीं मागूँगी। मैं कैसी भी हूँ, माता हूँ। तुम सत्य स्वरूप मुझे बार-बार माँ कहते हो। क्षमा माँगकर मैं तुमको, तुम्हारे शील एवं गौरवको अपमानित नहीं करूँगी।' मिथिला एवं अवधका पूरा समाज एकत्र था और उसके सम्मुख वे गोरवमयी वेदना विगलित कण्ठ कह रही थीं—'वत्स! समस्त गुरुजन एवं पुरजन साक्षी हैं; मैं चाहती हूँ कि तुम माँकी भूलको सुधार दो। कैकेयीको कोई वरदान नहीं चाहिये। माता होकर मैंने जो अमङ्गलका सृजन किया, उसके पुत्र तुम उसे मङ्गल बना दो।'

'माँ! रामने आपके आदेशको कब अस्वीकार किया है। आपकी आज्ञा स्वीकार करके आपका यह पुत्र यहाँ आया। आप इसे आज्ञा देनेको नित्य स्वतन्त्र हैं।' श्रीरघुनाथके शब्दोंने सबको अद्भुत आशा दी। स भी उत्कर्ण हो उठे। कितनी प्रवञ्चनामयी है यह आशा। वे मर्यादा पुरुषोत्तम—वे आगे कहते गये—'किन्तु माँ! मुझसे भी अधिक सम्मान्य एवं आराध्य हैं पितृचरण आपके लिये। उन्होंने जिस सत्यके लिये शरीर त्याग दिया—उनके वे वचन तो अब उनकी अनुपस्थितिमें ......परन्तु तुम पुत्रको क्या आज्ञा देती हो माँ?'

'राम!' माता क्या आज्ञा देतीं इस विषम स्थितिमें। वे वेदनाधिक्य के कारण केवल सम्बोधन करके संज्ञा शून्य होगयीं। मेरी जननीने उन्हें गिरते-गिरते सम्हाल लिया था।

* * *

न मिथिला नरेश, न कुलगुरु—कोई कुछ कह नहीं पाता था। किस मुखसे कोई कहे कि जिन वचनोंकी रक्षाके लिये पितृचरणने प्राण त्याग कर दिया, उन्हीं वचनोंकी उपेक्षा करके उनके परम प्रिय कुमार लौट चलें।

'पिताके वरदानकी मर्यादा मिटनी नहीं चाहिये। उसे मिटाते अत्यन्त संकोच होता है; किन्तु' वे दयाधाम, प्रणत वत्सल, संकोच सिन्धु

बार-बार कहते थे—"भरत मेरे प्राण प्रिय हैं। ऐसा कुछ भी नहीं, जो भरतके लिए मैं न कर सकूँ। भरत कहें, वह मैं करूँगा।

आर्य भरतलालजी ही क्या कहें ? जिन्हें हम अपना सर्वस्व, अपना आराध्य मानते हैं, जिनके श्रीचरणोंमें हमने अपना सर्वस्व त्याग दिया, वे अपनी इच्छा, अपनी मर्यादा, अपना गौरव छोड़ दें, वे अत्यन्त संकोच उठाकर भी हमारी इच्छा पूर्ति करें—ऐसा आग्रह करने वाले सेवकको धिक्कार !

'प्रभुने मेरा स्नेह रखा। मेरी सब भूलें, गुण बन गयीं स्वामीके अपार वात्सल्यमें। मुझे जो अनुग्रह प्राप्त हुआ—मैं पूर्ण होगया' आर्य श्रीभरतलालजीने गद्गद् स्वरमें कहा—"अब तो आप प्रसन्न चित्तसे आज्ञा दें। जिसमें स्वामीको संकोच न हो, ऐसा आदेश करें। यह जन उस आदेशको अपना सौभाग्य मानकर उस पर आरूढ़ होवे।"

"तात भरत ! तुम्हारे अत्यन्त सुकुमार भाव भरे हृदयको जानकर भी तुम पर जो निष्ठुर भार रख रहा हूँ—परिस्थितिकी विवशता है वह।" अत्यन्त गम्भीर स्वर था वह श्रीरघुनाथका—"तुम पूरे समाजके साथ अवध लौटो। जो अवधि निश्चित है, उतने दिन तुम प्रजाका पालन करो और मैं वनमें ऋषि-मुनियोंके सान्निध्यका लाभ उठाऊँ। हम दोनों इस प्रकार पितृचरणोंकी इच्छा सफल करें।"

"किन्तु नाथ ! अवधिके एक दिन भी अधिक नहीं।" आर्य श्री भरतलालजीका स्वर भी अद्भुत गम्भीर हो गया--"अवधिके व्यतीत होने पर अगले ही दिवस यदि इन चरणोंके दर्शन न हुए, भरत इस अधम देहको रखनेमें असमर्थ हो जायेगा।'

"अयोध्याके परम पवित्र राज्यासनको अपने स्पर्शसे कलुषित करनेका साहस भरत नहीं कर सकता।" सबको फिर इन शब्दोंने चौंकाया ; किन्तु बात हमारे महान् अग्रजकी गरिमाके अनुरूप ही थी--"स्वामी कहीं प्रवास करते हैं तो सेवक प्रतिनिधि होकर उनके राज्यका कार्य सम्पन्न करते ही हैं। मेरे स्वामीने दीर्घ प्रवास स्वीकार कर लिया, किन्तु इस जनको कुछ आधार मिले—अवधिका यह दीर्घकाल जिसके आश्रयमें रह कर प्राण व्यतीत कर सकें, वह ·····।"

"क्या आधार चाहते हो तात ?" श्रीरघुनाथ भी तात्पर्य कदाचित समझ नहीं सके थे।

'मैं जानता हूँ—श्रीअवध महारानी मुझे क्षमा नहीं करेंगी, यदि मैं उनसे लौटनेका दुराग्रह करूँ।" आर्य श्रीभरतलालने वहींसे मस्तक झुकाया श्री विदेह राजनन्दिनीके प्रति और तब वे अत्यन्त कातर भावसे श्रीरघुनाथके श्रीचरणोंमें झुक गये। उन्होंने अपने दोनों करोंसे उन मर्यादा पुरुषोत्तमकी चरण पादुकायें पकड़ ली थीं और अत्यन्त दैन्य पूर्ण नेत्र उनके ऊपर उठे—कातर याचना करते—'आर्य !.........

'तात !' श्रीरघुनाथने अत्यन्त संकोचका अनुभव किया ; किन्तु अस्वीकार नहीं कर सके वे दयाधाम। उनके श्रीचरण पादुकाओं परसे धीरेसे हट गये। श्रीभरतलालजीने झटपट दोनों पादुकायें उठाकर मस्तक पर धारण करलीं।

* * *

हमारे साथ अभिषेकके लिये समस्त तीर्थोंका जल गया था। महर्षि अत्रिके द्वारा निर्दिष्ट पावन स्थल पर एक कूप निर्मित हुआ और उसमें उस जलका विसर्जन हो गया। महर्षिने ही उस कूपका नामकरण किया—'भरत कूप।'

हमें अनुमति प्राप्त होगयी श्रीरघुनाथकी आस-पासके तीर्थ स्थल एवं वन दर्शनकी। इस प्रकार पाँच दिन हमें और उस पुण्य भूमिमें निवासका सौभाग्य प्राप्त होगया। केवल पाँच दिन—और फिर,.........।
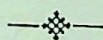
१९—प्रत्यावर्तन

हम लौटे—हमें लौटना पड़ा, यह कहना अधिक अच्छा होगा। कौन चाहता था उस सुरम्य काननसे लौटना ; किन्तु श्रीरघुनाथके चरणोंका सान्निध्य क्या सहज प्राप्त होता है। उसके लिये तो अभी चतुर्दश वार्षिकी तपस्या शेष थी।

महाराज मिथिलाधिप हमारे साथ आये। सुभद्र ! विपत्तिके दिनोंमें केवल महाराज ही थे जो आगे बढ़े हमें अपनी अभय छाया प्रदान करने ; किन्तु हमारा कितना अभाग्य—आर्य भरत पर उन्हें भी प्रथम सन्देह हुआ

था। पितृचरणोंके परमधाम पधारने एवं श्रीरघुनाथ केसानुज वनगमनका जब उन्हें समाचार प्राप्त हुआ—उन्होंने अयोध्या गुप्तचर भेजे अपने—'भरतका व्यवहार एवं भाव क्या है, पता लगाकर तुरन्त सूचना दो। तब कर्तव्यका निश्चय किया जा सकेगा।'

उनके जैसे ज्ञानमूर्तिसे किसी प्रमादकी आशा नहीं की जा सकती। उनका चर भेजना उनकी नीतिमत्ता……. ….; किन्तु सुभद्र ! आर्य भरतका सहज विश्वास वे भी नहीं कर सके थे—हाय रे विधाता ! जिसके त्याग, शील, सौजन्यकी समता त्रिभुवनने देखी नहीं, उस पर अपने स्वजन भी सन्दिग्ध हो उठे।

महाराज प्रत्येक परिस्थितिके लिये प्रस्तुत थे। चरोंसे समाचार मिलते ही उन्होंने चित्रकूटको प्रस्थान कर दिया और जब लौटना ही पड़ा—वे हमारे साथ ही लौटे।

हम उनका कोई सत्कार करनेमें असमर्थ थे। उनके साथके सेवक तक अयोध्याका जल स्वीकार नहीं करते थे। सरयूका जल—अपने साथ पर्याप्त व्यवस्था करके आये थे महाराज। इस दुर्दिनमें भी उन्होंने अपनी कन्याओंको उपहार दिये। वे गद्‌गद् कण्ठ कहते—'सीताको मैं कुछ देनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने तो निमिवंशको उज्वल-अक्षय कीर्ति दी।'

महाराज चार दिन अवधमें सरयू किनारे अपने वस्त्रावासमें रहे। उन्होंने सम्पूर्ण व्यवस्थाका निरीक्षण किया। हम सबको उचित आदेश दिये।

'भरत ! मिथिला की सम्पूर्ण सैन्य शक्ति एवं पूरा कोष तुम्हारा है।' महाराजने प्रस्थानसे पूर्व हमें आश्वासन दिया—'तुम्हारे सम्वादके साथ हमें तुम अयोध्यामें देखोगे। वैसे भी मैं बराबर समाचार लेता रहूँगा। किसी प्रकारका संकोच मत करना।'

'अब तो आप ही हमारे रक्षक एवं पिता हैं।' आर्य भरतजीने ठीक ही कहा था—'हम तो आदेशके पालनका प्रयत्न मात्र कर सकते हैं।'

* * *

'कुमार ! राज सदनमें मेरा शरीर प्रवेश करते ही जैसे दग्ध होने लगता है।' आर्य भरतने मुझसे एकान्तमें कहा—'तुम मुझे इस विपत्तिसे परित्राण दे सकते हो। तुम पर यह विषम दायित्व … …. किन्तु मुझे कुछ नहीं सूझता कुमार।'

'आर्य ! आज्ञा करें।' मैं और कह भी क्या सकता था। अपने उन महान अग्रजकी अहर्निशा दग्ध करती दारुण वेदना मुझे असह्य थी।

बिना एक शब्द कहे वे कुलगुरु के आश्रम चल पड़े। मुझे अनुगमन करना था और केवल सुनना था।

'श्री रघुनाथ कानन में निवास करते हैं, उटजमें तृणास्तरण पर शयन होता है उनका, यह सोचते ही हृदय विदीर्ण हुआ जाता है।' कुलगुरु को प्रणिपात करके, उनका आदेश मिलने पर आर्य कह रहे थे—'श्री चरण यदि अनुमति दें तो यह जन भी चतुर्दश वर्ष के लिये कुछ नियम कर ले।'

'तात ! तुम्हारे चित्त को असत् संकल्प स्पर्श नहीं कर सकता।' कुलगुरुने बिना कुछ पूछे, सादर दृढ़ विश्वासके स्वरमें कहा—'तुम जो संकल्प करोगे, तुम जो आचरण करोगे—श्रुतिका तात्पर्य समझनेमें वह हम सबकी सहायता करेगा। धर्मके आदेशोंको मूर्त करनेके लिये ही तुम्हारा प्राकट्य है। तुम्हारे समस्त संकल्पोंके लिये मेरी प्रथम ही अनुमति।'

आर्यने कुलगुरुके पावन पादोंमें मस्तक रख दिया। वहीं निश्चय हो गयी वह पुण्य तिथि जब अवध के राज्यासन पर श्रीरघुनाथकी चरण-पादुका प्रतिष्ठित होगी। वहीं निश्चय हो गया, अवध का राज्यासन श्री रघुनाथके बनवास कालमें अवधकी नगर सीमामें नहीं रहेगा। वह रहेगा नन्दिग्राममें। वह राजसौधमें नहीं, पर्ण कुटीरमें रहेगा। नन्दिग्राममें अवधके प्रमुख राज्य प्रतिनिधि स्थिर निवास करेंगे—यह भी वहीं निश्चय हो गया।

अवध के सम्राट वन में—पर्ण कुटीर में रहते हैं, उनका सिंहासन राज सदनमें, नगरमें कैसे रह सकता है। उनका प्रधान प्रतिनिधि राज भवनमें, राज वैभव का उपभोग करते निवास करे, यह भी कैसे उचित हो सकता था। सम्राट तापस बने उटजवासी होगये हैं तो उनका प्रतिनिधि भी तापस ही बना रहेगा। वह भी पर्णोटजमें ही रहेगा। आर्य का यह निश्चय सर्वथा श्लाध्य था। उसका औचित्य स्वतः सिद्ध था।

* * *

नन्दिग्राममें पर्ण कुटीर प्रस्तुत हुई। अवधके त्रिभुवन वन्द्य सिंहासन की स्थापना हुई उस कुटीरमें और उस सिंहासन पर मङ्गल-मुहूर्तमें श्री रघुनाथकी चरण पादुका स्थापित हुई। आर्यने उसी कुटीरमें आसन लगाया।

'कुमार ! बड़े होनेका लाभ उठा लेने दो मुझे ।' आर्यने अनुनयके स्वरमें कहा—'तुम त्यागका आग्रह करोगे तो मेरे नियमोंका निर्वाह अशक्य हो जायगा । तुम सदाके मेरे सहायक—इस विषम स्थितिको भी तुम्हें सम्हालना है बन्धु ।'

'मैं आज्ञानुवर्ती हूँ आर्य ।' मुझे जो कर्तव्य दिया गया था, मैंने उसे स्वीकार कर लिया ।

'हम तीनों ही भाई भाग खड़े हुये । शत्रुघ्न ! स्थितिके सम्मुखीन होनेका शौर्य तुम्हें वरण करे ।' आर्यने आदेश दिया—'सभी दुःखी हैं । व्यवस्था कम ही आवश्यक है । सुरक्षा एवं व्यवस्था तो कुलगुरुके आशीर्वाद से महामात्यके करोंमें पूर्ण रक्षित-व्यवस्थित है । पुरजनों एवं स्वजनोंका, विशेषतः राजसदनके सभी सदस्योंका तुम पर भार है । उनको किसी प्रकार आश्वस्त किये रहो । उनकी वेदनाको यथाशक्य परिसीमित करते रहो । वे किसी प्रकार शरीर धारण किये रहें, आहारादि लें—कुमार ! माँ तथा वधू उर्मिला का विशेष ध्यान रखना है तुम्हें ।'

* * *

'कुमार ! श्री राम बनमें हैं और भरत नियमोन्मुख हो नन्दिग्राममें स्थित हैं, यदि कोई कापुरुष यह सोचकर लोभाभिभूत हो' सहसा कुलगुरु उपस्थित हुये थे । हम दोनों भाईयोंके पद-बन्दन करते ही उन्होंने आदेश दिया—'वह धर्मयुद्धका अधिकारी नहीं रहेगा । राष्ट्रकी रक्षाका दायित्व एकाकी रघुकुलके कनिष्ठ कुमार पर है, यह धारणा जिसे भ्रान्त करे, पूरे चतुर्दश वर्षके लिये वशिष्ठका आदेश है तुम्हें वत्स ! तुम सीधे दिव्यास्त्र उठाओगे—ब्रह्मास्त्र उठानेके लिये भी इस ब्राह्मण की तुम्हें अनुमति है ।'

'भरत शस्त्रन्यास नहीं कर रहा है भगवन् !' आर्यने कुलगुरुके श्री चरणोंमें मस्तक झुकाया—'प्रभुका कार्मुक बनमें भी आर्त रक्षणको प्रस्तुत रहता है, उनका यह क्षुद्रजन अपने क्षात्र कर्तव्यसे परांमुख कैसे हो सकता है ।'

'केवल कुमारको पर्याप्त होना चाहिये, यदि कोई मूढ़ अवधका प्रतिपक्षी बनने के दुर्भाग्य को आमन्त्रित ही करे ।' कुलगुरुने अपनी अमृत स्यन्दिनी दिव्य दृष्टिका प्रसाद दिया मुझे—'किन्तु आशंका अकारण है—इतना मूर्ख कोई नहीं होगा कि यमको आमन्त्रण देनेकी उत्सुकता उसमें जागृत हो । मेरा आदेश केवल सावधानीके लिये है ।'

'अवध श्री चरणोंके आशीर्वाद से नित्य रक्षित है।' आर्यने मेरी ओर देखा—'यदि आवश्यकता ही हुई—शत्रुके लिये शत्रुघ्नके त्रोणमें आपके कृपा प्रसाद से दिव्यास्त्रोंका अभाव कभी नहीं होगा।'

मैंने कुलगुरु एवं अपने महान अग्रजके पावन पदोंमें मस्तक रख दिया था। तुम जानते ही हो सुभद्र! त्रिभुवनमें कोई इतना अविवेकी नहीं था जो उन दिनों अवधकी ओर दृष्टि उठाता। परम्परा प्राप्त रघुकुलके दिव्यास्त्रोंकी शक्ति दानव कुलने भी देवासुर संग्राममें पितृ चरणोंके सम्मिलित होने पर देख ली थी और उनकी अग्निमें आहुति बननेका दुस्साहस भला कौन करता।

* * *

इस प्रकार हम चित्रकूट गये भी और लौट भी आये। अब हमारे लिये एक ही आधार था—निषादराज से प्राप्त सन्देश। उन श्री रघुनाथके सखा ने ऐसी व्यवस्था करली थी कि चित्रकूटमें श्री रघुनाथ की प्रतिदिनकी चर्या उन्हें ज्ञात होती रहे। हम पर अनुग्रह करके वे प्रतिदिन हमें उससे सूचित करते थे।

निषादराजका चर प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर आ पहुँचता था नन्दिग्राम। हम पथकी ओर दृष्टि लगाये उसकी प्रतीक्षा करते थे। गत दिन श्री रघुवंश भूषण वनमें कहाँ-कहाँ पधारे, उनके आश्रममें कौन-कौन ऋषि-मुनि आये, श्री जनकराज नन्दिनी एवं मेरे सहोदर अग्रजने किन स्थानों पर तुलसिका, कुसुम एवं तरुओंके पौधे आरोपित किये, कहाँ वेदिका बनी—हमें तो वहाँ की प्रत्येक छोटीसे छोटी बात प्राणप्रिय प्रतीत होती थी। चरको मैं नन्दिग्राम से राज सदन ले जाता। मातायें एवं अन्तःपुर के सभी जन उससे वह सब पुनः सुनते। राज सदनमें सम्मान्य अतिथि का सत्कार पाता वह।

भाग्यहीनोंके सुख स्थायी नहीं होते सुभद्र! यह सम्वाद सुख भी हमारा दैव नहीं देख सका। एक दिन चर आया और उसने सम्वाद दिया—'श्री रघुनाथने महारानी एवं अनुजके साथ आश्रम छोड़ दिया। वे महर्षि अत्रिके आश्रम पधारे। महर्षि एवं देवी अनुसूयासे विदा लेकर दक्षिणारण्य की ओर वे चले गये।'

हाय! अब हम अपने उन आराध्य का कोई सम्वाद भी नहीं पा सकेंगे। केवल इतना सम्वाद अगले दिन और आया—'दुरात्मा विराध श्री रघुनाथके करोंसे मरकर मुक्त होगया तथा जब वे महर्षि शरभङ्गके आश्रम

पहुँचे, महर्षि परमधाम प्रस्थान की प्रस्तुति कर चुके थे। श्री रामके सम्मुख ही समिधाओंकी राशिमें योगाग्नि उद्दीप्त करके अपने पाञ्चभौतिक देहको उन्होंने आहुति बना दिया। श्री रघुनाथ वहाँसे सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रमकी ओर प्रस्थान कर गये।' इससे आगे सम्वाद मिलना शक्य नहीं रह गया था।

—०—

२०—वे दारुण दिन

उन दिनोंकी स्मृति भी कष्टदा है सुभद्र ! अत्यन्त दुस्सह थे वे दिन और वह भी सप्ताह—दो सप्ताह नहीं, मास दो मास नहीं, पूरे चतुर्दश वर्ष।

'जगतीको वे दिन धन्य कर गये स्वामी !' सुभद्रका स्वर श्रद्धा समन्वित था—'काल के अनवरुद्ध प्रवाह पर उनके चिह्न सदाको सुचिह्नित हो गये। धराके प्राणी कल्प-कल्प तक उन तपः पूत दिनोंके स्मरणसे पवित्र होते रहेंगे।

तपस्या तो सुगम थी—स्वाभाविक हो गयी थी तब ; किन्तु वह अपने भाग्यमें थी कहाँ ? जब तीव्रदाहसे अन्तर प्रज्वलित हो, क्षण-क्षण वेदना नवीन-नवीन रूप धारण करती जारही हो—आहार, जल, शयन-शृङ्गार काटने दौड़ते हैं। उनसे सहज अरुचि होजाती है। उस समय रुदन, अनाहार, भूमि शयन—अवश्य यह तप है ; किन्तु उस अवस्थामें यह तप कितना शान्ति-प्रद होता है। भाग्यवान हैं वे, जिन्हें वेदनाके दिनोंमें इस तपसे वञ्चित होनेको विवश नहीं होना पड़ता।

सुभद्र ! शत्रुघ्न ऐसा सौभाग्य लेकर उत्पन्न नहीं हुआ। जब आहार विषवत् प्रतीत होता था—हँसकर, इच्छा प्रकट करके उसे ग्रहण करना पड़ता था। जब वस्त्राभरण, अङ्गरागादिके स्पर्शसे शरीरकी ज्वाला उद्दीप्त होती थी—उन्हें अधिक सावधानी से धारण करना था शत्रुघ्नको और एकान्त कहाँ था इसके भाग्यमें। इसे तो जान-बूझ कर बार-बार उन सम्पर्कोंमें जाना था, जहाँ शोक प्रदीप्त होता रहे।

कपटाचार, दम्भ, छल, असत्य—ये पाप हैं न सुभद्र ! पूरे चतुर्दश वर्षका शत्रुघ्नका जीवन इस पापसे परिपूर्ण है। क्षुधा है नहीं—किन्तु बार-बार मैंने कहा—'क्षुधातुर हूँ माँ !' अन्तर हाहाकार कर रहा है; किन्तु मुख पर स्मित बना रहे, लोग समझते रहें कि उनका कुमार प्रसन्न है—यह कपटाचार चलता रहा। चित्तमें कोई उत्साह नहीं; किन्तु वस्त्राभरणोंसे सज्जित, अङ्गराग मण्डित, अपनेको उत्साह मूर्ति प्रदर्शित करनेके दम्भमें प्रमाद नहीं आने दिया मैंने।

'यह पाप हो देव तो इससे बड़े पुण्यका सर्जन करनेमें स्रष्टा कभी समर्थ नहीं होंगे।' सुभद्रका कण्ठ गद्गद् हो गया था और उनके नेत्रोंसे विन्दु टपकने लगे थे—'दूसरोंके सन्तोषके लिये, दूसरोंकी प्रसन्नताके लिए अपनी सुख-सुविधा, आकांक्षा एवं अपने आपका भी यह निरन्तर बलिदान—इस अभूतपूर्व उत्सर्गका उदाहरण विश्व और कहाँ पा सकता है।'

'पाप-पुण्यकी बात मैंने तब नहीं सोची और अब भी नहीं सोचता। मेरा कर्तव्य—कितना विषम कर्तव्य प्राप्त हुआ था मुझे। अपनी शक्तिके अनुसार उसमें मैंने प्रमादको प्रवेश नहीं करने दिया।'

'पुण्य इन चरणोंकी रजसे सनाथ बनता है !' सहसा सुभद्रने अपने स्वामीके चरणोंमें हाथ लगाकर उसे मस्तक पर लगा लिया—'वह चिन्त्य तो हम जैसोंका भी नहीं रह गया; क्योंकि इन चरणोंका आश्रय ही उसकी नित्य प्राप्तिका आश्वासन है।'

'ऐसा नहीं करते बन्धु !' कुमारने सहज संकोच व्यक्त किया और वे पुनः अपने मूल प्रसङ्ग पर आगये—'पुरजन, परिजन सभी श्रीरघुनाथके वियोगसे व्याकुल। सभी कोई न कोई व्रत, कोई न कोई अनुष्ठान प्रारम्भ कर चुके थे। नहीं कुछ कर सका यह अकेला शत्रुघ्न।'

उन दिनों नित्य सुसज्ज, देवोपम नागरिकोंकी हमारी नगरी ऋषि-आश्रम होगयी थी। रत्न जटित तो दूर है, सामान्य आभरण भी किसी नागरिकके शरीर पर दृष्टि नहीं पड़ता था। प्रायः सभी नागरिकोंने श्वेत वस्त्र अपना लिये थे। कुछ ने तो उत्तरीयका त्याग करके ऐणेयाजिन स्वीकार कर लिया था। विप्र वर्ग एक ओरसे वल्कलधारी होगया। बालकोंके शरीरों पर भी आभरण दृष्टि पड़ना दुर्लभ होगया। उन अबोध शिशुओंको सज्जित करनेका उत्साह किसमें था।

पुर नारियाँ—जिनकी शोभा एवं शृङ्गारकी स्पर्धा कभी सुरेन्द्र महाराज्ञी भी नहीं कर सकीं—वे अवधकी पुरनारियाँ तपस्विनी होगयीं

थीं। सौभाग्याभरणके अतिरिक्त उनके रूक्ष केश, उनका श्वेत परिधान—सबकी सब तपस्विनियाँ होगयीं।

अयोध्यामें अङ्गराग प्रस्तुत होना समाप्त होगया। केवल सुरार्चनके लिये मलय घर्षित होता। सुमनमाल्य गुम्फित होते एवं सुरभित धूप अग्नि देव प्राप्त करते। सेवक-सेविकाओंके समीप कार्य नहीं रह गये। सौधोंकी स्वर्ण शय्यायें पूरे चतुर्दश वर्ष शून्य रहीं और गवाक्षोंने अगुरु-धूमके दर्शन नहीं पाये। भूमि शयन, अल्पाहार, अनलंकृत देह—अयोध्याके नर-नारी आराधना-जीवन व्यतीत करने लगे थे।

सरयूके तट पर, देवालयोंमें, अग्निशालाओंमें अथवा अर्चनकक्षोंमें—अब इन्हीं स्थानोंमें जनाकीर्णता प्राप्त हो सकती थी।

राज सेवकोंको भी कार्याभाव होगया था। राजपथ प्राय: जन शून्य और यदि नागरिक चलते भी तो शान्त, निस्तब्ध-अत्यन्त संयमित गति। हाटोंमें केवल अर्चन-द्रव्यों मात्रका क्रय-विक्रय रह गया। अश्व, रथ, गज—यानोंकी भी कोई उपयोगिता है, इसे जसे अवधवासी विस्मृत ही होगये।

अश्व, गज, अश्वतरी, आदि पशुओंको ही नहीं, नापित, लौहकार, स्वर्णकार, काष्ठ कलाकार, वयक, मालाकार प्रभृति एक विस्तृत प्रजावर्गको अवकाश प्राप्त होगया—सुदीर्घ अवकाश।

अयोध्याके अन्तःपुरोंसे नन्हीं बालिकाओंके अतिरिक्त सुरङ्ग कौशेयांशुक, रत्नाभरण एवं अङ्गराग एक ही शरीर पर दृष्टि पड़ सकता था तथा अवधके राजपथों पर सुसज्ज अश्व, अपने सम्पूर्ण सज्ज आरोहीके साथ एक ही निकलता था। इस सज्जा के पीछे कितनी वेदना होती—अन्तर्यामीके अतिरिक्त कोई कैसे जान सकता था। हम अभागे दम्पति थे वे—हमें उस त्याग, उस तितिक्षाका अधिकार नहीं था, जो अवध के सामान्यजन का भी स्वत्व था। हम म्लान वदन नहीं हो सकते थे। अश्रु गिराना हमारे लिये अपराध था। हमें कमसे कम जब कोई भी अन्य सम्मुख हो—स्मित मुख रहना था--भले अन्तर हाहाकार करता हो।

हमारा वह शृङ्गार, हमारे वस्त्राभरण एवं वह अङ्गराग—वह स्मित हमारे मुखोंका--सुभद्र ! पतिके परलोक गामिनी होने पर साध्वी नारी सह चितारोहणके पूर्व शृङ्गार धारण करती है--ओह, कितने अल्प

कालका है उसका शृङ्गार और हमें उसकी चिताकी लपटोंसे कहीं अधिक दाहक यह साज सज्जा वर्षों स्वीकार करनी पड़ी।

सबको अवकाश प्राप्त हो गया ; किन्तु शत्रुघ्नको अवकाश कहाँ था। व्रत, उपवास, आराधना, अर्चन—'हमारे लिये तो ये वर्जित कृत्य होगये थे। अपना नित्य कर्म भी संक्षिप्त रूपमें ही कर लेना था। व्यस्तता उलटे अधिक बढ़ गयी थी और बढ़ती ही गयी वह।

अश्व एवं गज सुशिक्षित न हों तो उनका उपयोग? दीर्घकालीन अवकाश प्राप्त हो जाय उन्हें, अपनी शिक्षा वे विस्मृत हो ही जायँगे। राजकीय अश्वशाला एवं गजशालाका प्रश्न ही नहीं था। मुझे अवधके सम्मान्य नागरिकों के निजी पशुओं को भी सम्हालना था।

बात पशुओं तक ही कहाँ थी, हमारे कला प्राण जन—अभ्यास बना न रहे तो उनकी कलामें प्राण कैसे बना रह सकता था। उनका अभ्यास बना रहे, शत्रुघ्नको इसके लिये सचेष्ट रहना पड़ता था। उनके लिये 'काम' बनाये रखना था।

नागरिकोंकी उदासीनता—अवधके नगरजन एवं उनका समस्त सम्भार श्रीरघुनाथ का अपना ही था। उस सबको अब राज सेवकों को ही सुरक्षित बनाये रखना था।

इस व्यस्तताके मध्य केवल एक आश्वासन था—'श्रीरघुनाथ चतुर्दश वर्ष समाप्त होते ही लौटेंगे।' उनके स्वागत सम्भार प्रस्तुत करनेकी अभीसे मैंने प्रेरणा देना प्रारम्भ किया। यही एक मार्ग था कला जीवियों को, राज सेवकों को नागरिकों को सचेष्ट रखनेका और इस विचार ने उनमें पर्याप्त तन्मयता एवं क्रिया शीलता प्रदानकी।

* * *

माँ तपोमयी होगयी थीं। उनका अमित वात्सल्य—वे दयामयी अपनी करुणासे ही नित्य आर्द्र थीं। उनके समीप अधिक आग्रह मुझे कभी नहीं करना पड़ा। दो घूँट दूध, दो फल ग्रहण कर लूँगा यदि वे भी स्वीकार कर लें, इस आग्रहको उनके समीप सदा सफलता प्राप्त हो जाती थी।

'कुमार, तुम दुर्बल हुए जाते हो वत्स!'—पहुँचते ही उनकी वात्सल्यमयी क्रीड़ा प्राप्त होती। उनके स्नेहकी भी कहीं सीमा है।

मेरी जननी--वे महिमामयी नित्य वन्दनीया हैं। उनसे कोई क्या आग्रह करेगा। वे न होतीं--उन दारुण दिनोंमें अवधके अन्तःपुरमें जीवन-सुरक्षित रह सकता था ? वे स्वयं सबका ध्यान रखतीं, सबको सम्हालतीं-आश्वासनमयी वे !

'बेटा ! लक्ष्मणने मुझे पुत्रवती बनाया। श्रीरामकी सेवामें लगकर उसने मुझे भी धन्य किया।' वे प्रायः कहा करतीं--'कुमार ; किन्तु तुम्हें उससे कठिन कर्तव्य प्राप्त हुआ वत्स ! तुम इसका निर्वाह कर सको--जननीका आशीर्वाद।'

उनकी प्रेरणा, उनकी मङ्गल कामना ही मेरा सम्बल रही है सुभद्र ! उनके सम्मुख कुछ कहनेका साहस कदाचित् ही किया होगा मैंने।

भाभियोंकी चर्चा फिर करूँगा। सबसे कठिन सम्हालना था माता कैकेयीको। उनकी पीड़ाका पार नहीं था। उनका अन्तस्ताप--उनके समोप पहुँचकर वाणी भी बोझिल हो उठती।

'कुमार, तुम अब भी इस दुष्टाका सम्मान करते हो ?' प्रायः वे क्रन्दन कर उठतीं—अन्ततः तुम राम के ही अनुज हो—राम ! मेरा शील सिन्धु राम ! उसने अब भी नहीं जाना कि उसकी माँ कैकेयी नहीं है। अपने उस रामको निर्वासित किया मैंने। कहाँ होगा--कहाँ होगी उसके साथ मेरी सुमन सुकुमार पुत्रवधू वैदेही !'

'कुमार, तुम यहाँ दुग्धपान करना चाहते हो ? तुम कैकेयीके करों से--इन कलुषित करोंसे दिये फल स्वीकार करोगे ?' मैं अपनी क्षुधाकी चर्चा करता तो प्रायः वे उन्मादिनीकी भाँति मेरा मुख तथा अपने कर बार-बार देखने लगतीं—'इन्हीं करोंसे मैंने श्रीरामको, लक्ष्मणको और जनक नन्दिनीको बल्कल दिया पहिननेको। तुम्हें भय नहीं लगता ? जो अपने रामको निर्वासित कर सकती है, वह तुम्हें विष नहीं दे देगी ?'

माता जबसे चित्रकूटसे लौटी थीं, उनकी व्यथा अत्यधिक बढ़ गयी थी। श्रीरघुनाथने एवं भगवती धरानन्दिनीने वहाँ बार-बार इतना अधिक सम्मान किया—इतनी आत्मीयता उनकी, उसमें न आडम्बर, न कृतिमता; किन्तु माताके लिये वह सब दारुण विष होगया। वे प्रायः अर्धोन्मादिनी होगयी थीं। उनका शरीर अत्यन्त क्षीण होचुकाथा। उनका पाटलनिन्दिक वर्ण—अब वह पीताभ श्वेत—रक्तहीना देखी नहीं जाती थीं।

उनके प्रति नागरिकोंके भाव शुद्ध नहीं हुये थे, यह सत्य है ; किन्तु उन्हें किसीके सम्पर्कमें आना कहाँ था। उनका जनहीन सदन--उसकी स्वच्छता मेरे आग्रहके कारण सम्पन्न होती। उसकी सज्जाका आग्रह मैंने नहीं किया—यह उनको अधिक व्यथा देनेका प्रयास होता।

व्रत, अर्जन—ये औरोंके लिये ही आश्वासन थे। वे स्वयं अपनी वेदना में नित्य दग्ध—'यह पतिघातिनी अर्चन करेगी, इसकी अर्चा स्वीकार करे, ऐसा कौन देवता होगा ! अपने परमेश्वर की तो इसने स्वयं हत्या कर दी ! हाय, वे मेरे नाथ ! वे रोये, गिड़गिड़ाये, इस अभागीके सम्मुख हाथ जोड़े उन्होंने, इसके पैर पकड़े—इस अधमाके लिये कोई व्यवस्था नहीं यमके समीप भी।' उनकी मर्मपीड़ाको शान्त करनेका उपाय नहीं था—'व्रत, किसके लिये ? अपने रामको तो इस पापिष्ठाने ही निर्वासित किया। यह अमङ्गलमयी—इसके द्वारा हुये कार्य किसीका कहीं मङ्गल कर सकते है।' माताको आश्वासन देनेका मार्ग ही नहीं था। बड़ी कठिनायी से यदा कदा ही वे कुछ फल ग्रहण करती थीं।

—*—

२१—वे तपोमूर्तियाँ

भाभियोंकी क्या चर्चा करूँ सुभद्र ! हमारी बड़ी भाभी—वे जगद्धात्री, अयोध्याकी अधिदेवता—हमें पता नहीं था कि वे कहाँ हैं। महाराज विदेहकी पुत्री तथा चक्रवर्ती महाराज दशरथकी पुत्र बधू वन-वन भटक रही थीं—इससे बड़ा अभाग्य हमारा और क्या हो सकता था।

मध्यम भाभी—वे नित्य गम्भीर, शीलमयी, आर्य जब से नन्दिग्राम में नियम स्वीकार करके स्थित हुए—उन्होंने प्रायः वे सबके सब नियम राजसदन में अपने बना लिये।

नन्दिग्राम से लौटकर जब मैं प्रथम दिन उनके सदन में पहुँचा था—तपस्याकी अधिदेवी साकार हो जायँ, कदाचित् ही उतनी तेजस्विनी दृष्टि पड़ेंगी। शय्या नहीं, स्वर्णासन नहीं, कोई साज सज्जा नहीं। भूमि पर कुशा स्तरण पर वे उज्वल वस्त्रा, निराभरणा, मुक्तकेशा—मूर्तिमती तप रूपा आसीन थीं।

'लाल जी !' उन्होंने मुझे कदाचित् ही कभी कुमार कहा होगा—'तुम तपस्वीके सदन में आते हो तो यहाँ तुम्हें तृणासन से ही सन्तोष करना है।' मुझे एक कुशासन प्राप्त हुआ बैठनेके लिये।

'मेरे स्वामी ने जो कुछ स्वीकार किया है' उन महिमामयी ने सरल भाव से कहा—'वह अपूर्ण रहेगा, यदि उनका शेष अर्धाङ्ग उसे ग्रहण न करे।'

'आर्य ने आपके लिये ऐसा कोई निर्देश नहीं किया है।' मैंने संकोचके साथ ही यह बात कही। उन सम्मान्याके सम्मुख मुझे अपने ये शब्द भी धृष्टता ही प्रतीत होते थे।

'उनके आदेशकी अपेक्षा भी क्या है।' सहज भाव से उन्होंने कहा—'उनकी अपनी स्वीकृति यदि मेरी स्वीकृति न बन सके, आदेशका पालन आन्तरिक कहाँ बन सकता है।'

'आप हम सब पर कुछ अनुग्रह नहीं करेंगी ?' मैं रो पड़ा था।

'लाल जी ! तुम्हारे अवधके राजसदनमें आकर मैंने सीखा है कि प्रदान ही जीवन है।' वे गम्भीर हो गयी—ग्रहण तो यहाँ किसी ने सीखा नहीं। छोटी माता ने केवल एक बार प्रमाद किया और अब पश्चातापके अतिरिक्त उनके जीवन में रह क्या गया है। यहाँ तो सभी 'स्व' का प्रदान ही करते हैं। मेरे समीप कुछ नहीं है देने को ; किन्तु अपने आराध्य का अनुवर्तन करने दो मुझे।'

'केवल शत्रुघ्न ने त्याग नहीं सीखा।' मैंने किञ्चित विनोदका वातावरण उत्पन्न करनेकी चेष्टाकी—'समस्त सुख भोग सबने इसी स्वार्थीके लिये छोड़ दिये हैं।'

'तुम मुझे ठग नहीं सकते।' वे महादेवी किञ्चित हँसी—'लाल जी ! ये वस्त्र, ये आभरण और यह उल्लास दर्शन—मैं स्वीकार करती हूँ कि यह क्षमता तुम्हीं में है। श्रुतिकीर्ति मेरी अनुजा है ; किन्तु उसने मुझे पराजित कर दिया इस विषय में। अन्तर में दावानल दबाये हिम शीतल रहनेकी शक्ति मैं अपने में नहीं देखती। यह तुम दोनोंका ही कार्य है कि औरोंकी प्रसन्नताके लिये तुमने निसर्ग सिद्ध त्यागका भी त्याग किया।'

'आप मुझे लज्जित……… …' मैं बोल नहीं सका।

'तुम मुझसे छोटे हो ; किन्तु अन्तर जो श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है' गद्गद् स्वर हो उठा था—'किन्तु लाल जी ! मुझसे आग्रह मत करो।

मुझमें यह शक्ति नहीं। अपने नाथके पदोंका अनुसरण कर सकूँ, इतनी अनुमति दो तुम मुझे।'

मुझे वहाँ से यथा शीघ्र विदा लेनी पड़ी। गोमूत्र यावक गायको जौ खिला दिया जाता है। वह जब गोबर में निकलता है तब उसे धोकर, कूट कर दलिया बनाते हैं। गोमूत्र में पकाने पर वह गोमूत्र-याबक हुआ। भरत जीका यही आहार था। आहार, भूमि शयन, त्रिकाल स्नान और यह सब भी व्रत नहीं माना गया। आये दिन व्रत चलते ही रहते थे उनके।

'बेटी माण्डवी ! तुझे इस सबकी आवश्यकता है, किसने कहा ?' मैंने माँको प्रेरित किया और उन्होंने समझाने की चेष्टाकी—'मैं भरत से कहूँगी, मेरी सुमन कोमल पुत्रवधू से वह तपकी आकांक्षा करने लगा है।'

'आपके तो सभी कुमार निराकाँक्ष है मातः।' पदवन्दन करके बड़े संकोच से उन्होंने विनय की––'किन्तु यह पुत्री क्या अपनी जीजी से अधिक सुकुमार है ! इसे क्या इतना भी अधिकार नहीं कि आपके पुत्र जो स्वीकार करें, उसे यह भी अपना स्वत्व बना ले !'

'तू जिसमें प्रसन्न रह बेटी।' माँ का स्वभाव ही अधिक आग्रह करने का नहीं है। उन्होंने केवल इतना कहा—'तू अधिक तप न कर, मेरी इच्छा तो इतनी ही थी।'

'आप मेरी चिन्ता न करे !' भाभी ने भाव भरे शब्दों में कहा––'मैं तप कहाँ कर रही हूँ। जिन कार्यों में मुझे सुख मिलता है, वे मेरे लिये तप नहीं हो सकते मातः।'

'सब यही कहते हैं––'आप मेरी चिन्ता न करें ! यही जानकी ने कहलाया और यही तू कहती है !' माँ सहसा रुदन करने लगीं––'सबके लिये चिन्ता करनेको अब यह अभागिनी माता ही रह गयी है। सब इसीकी चिन्ता करो।'

बड़ी कठिनायी हुई माँको आश्वस्त करने में। उन्हें मैं किसी प्रकार उनके निज सदन में ले आया।

* * *

'आओ कुमार !' छोटी भाभीके सदन मे प्रायः मेरा सोल्लास स्वागत होता था। वे ओजमयी—उनके सम्मुख ही मैं खुल पाता था और उनके सम्मुख मेरा कोई बहाना चलता नहीं था—'हमारे सबसे तपस्वी देवर ! किन्तु यहाँ तुम इन दिव्य वस्त्रों, बहुमूल्य आभरणों में न भी आओ तो काम

चलेगा । दूसरे प्रसन्न हों, इसलिये अपने अन्तर की अग्निको कहाँ तक दबाये रखोगे ! इन्हें उतार दो और वह वल्कल रखा है । मुझे पता है, वह तुम्हें अधिक शान्ति देगा । अधिक सुख स्पर्शी, शीतल प्रतीत होगा । कुछ क्षणोंके लिये ही सही·······'

सचमुच सुभद्र, वल्कल अधिक सुख स्पर्शी, अधिक शीतल था । अनेक बार मैंने छोटी भाभीके अन्तःपुर में अपने सब वस्त्राभरण उतार कर बल्कल पहिना—मैं उसे पहिने रह सकूँ, ऐसा सौभाग्य दैव ने मुझे दिया नहीं था ।

'कुमार, तुम्हारे अग्रज इसी वेश में रहते हैं वन में ।' मेरे वल्कल पहिन लेने पर भाभी उर्मिला एकटक देखने लगतीं—'केवल उनकी अलकें उन्मुक्त नहीं हैं । उन्होंने जटा बना ली है ।'

'आप इस प्रकार देखेंगी तो मैं यहाँ नहीं आया करूँगा ।' उनकी दृष्टि उन्मादिनकी दृष्टि लगती मुझे । सच तो यह है सुभद्र ! कि वे ओजमयी अपनी पूरी सचेतना में मुझे कभी नहीं मिलीं । कभी क्रन्दन करती, कभी सुप्रसन्ना । कभी उनका शरीर जैसे वियोगवह्नि से झुलसा—रक्तहीन और कभी उनके मुख पर अद्‌भुत कान्ति । कभी वे कठिनायी से मेरी ओर देखतीं, एक शब्द भी बोलने में उन्हें कष्ट हो रहा है, ऐसा जान पड़ता; किन्तु कभी उनकी सुमन वर्षिणी वाणी अवरुद्ध ही नहीं होती ।

छोटी भाभी कला निपुणा—अत्यन्त सुरुचि पूर्णा थीं—अब तो 'थीं' कहना चाहिये । अब उनके अवध में होनेका भी क्या अर्थ है ।' कुमार सहसा अत्यधिक विह्वल हो उठे; किन्तु शीघ्र उन्होंने अपनेको सम्हाल लिया ।

'तुम्हारे अग्रज लौटेंगे कुमार ! किङ्करीको उनका स्वागत करनेका सौभाग्य प्राप्त होगा ।' कभी वे इस भावना में सप्ताहके सप्ताह तल्लीन रहतीं । उनकी स्वर-साधना और उनका काव्य कौशल—उनका अन्तःपुर एकान्त साधनाकी सङ्गीत लहरी से उन दिनों मुखरित होता रहता ।

'वे कितना स्नेह करते थे अपने इस उद्यान से । यह स्वर्ण मल्लिका उन्होंने अपने करों से लगायी है ।' कभी उनका पूरा दिवस उद्यान-सेवा में व्यतीत होता । जब उन्हें ढूँढ़ते मैं वहाँ पहुँचता, वे मुझे दिखलाती घूमतीं—'इस कुञ्ज में वे विश्राम करेंगे ! इस वापिका के तट पर वे जब विराजमान होंगे, यह राजमराल उनके अरुण चरणों में अवश्य आ बैठेगा । इस मृग शावकको मैं सुशिक्षित कर रही हूँ । उन बनवासीको यह अपनी क्रीड़ा से प्रसन्न करेगा ।'

पता नहीं कितने पक्षी, शशक, शावक आदि सुशिक्षित करती रहतीं वे। लताओं, वीरुधों, सुमन-तरुओं को अपने सकुमार करों से स्वयं सिञ्चित करतीं। नाना प्रकारकी आकृतियां देतीं उन्हें।

कभी हस्तकला प्रधान बन जाती। कौशेय वस्त्रों पर सूचिका विभिन्न रङ्गोंमें एक नवीन सृष्टि निर्मित करती चलती—'वे आवेंगे और जब इस रत्नासन पर आसीन होंगे, पादपीठा स्तरण पर यह सेविका उनके श्रीचरणोंमें सुमनाञ्जलि सर्मपित करती रहेगी। शय्यास्तरण, उपवर्हण, गवाक्षाच्छादन, कोई छूटता नहीं। कहाँ क्या शोभित होगा—अद्भुत सूझ लोकोत्तर कला…………।

'उनके वनवासी वेशका एक चित्र बनाया है मैंने।' उनकी तूलिका प्राण नहीं डाल पाती ; किन्तु यदि कक्षमें वह चित्र प्रथम ही अनावृत होता—मैं अवश्य चौंक पड़ता और उसे प्रणिपात करता प्रत्यक्ष समझकर।

'कुमार ; तुम्हारे वे सम्मान्य अग्रज कन्द मूलाशी होगये हैं।' वे वन्दनीया उपवनमें सुस्वादु कन्द, मूल, अंकुर उगानेमें लगी मिलतीं—'मैं इनको प्रस्तुत करना सीख रही हूँ।'

ऐसे किसी उमङ्गके दिवस धन्य होते। वे किसी धुनमें लगी हों—मुझे लगता इसके पीछे उनका अन्तर्दाह कुछ तो कम है। उन दिनों मैं उन्हें कुछ आहार ग्रहण करानेमें सफल हो जाता।

'वे वन्य मूल, अंकुरादि मात्र ग्रहण करते हैं कुमार! तुम भी इनका आस्वादन कर देखो।' अपने करोंसे वे स्वयं उनको प्रस्तुत कर लातीं—'केवल इन्हें ही तुम रुचि पूर्वक ग्रहण कर सकते हो। माँ को प्रसन्न करनेके लिये अरुचिको अन्तरमें बलात् दबाकर तुम जो सुस्वादु पदार्थ किसी प्रकार कण्ठसे नीचे उतार देते हो—कितनी कृतिम होती है तुम्हारी वह प्रसन्नता।'

उन महत्तमाके सम्मुख मेरा कोई दम्भ कभी नहीं चला। उनके सदनमें ही सचमुच यदा कदा अमृतोपम कन्द-मूल पा सका और वहीं इसकी क्षुधा निवृत हुई उन दिनों।

कभी उनके सुकोमल कुन्तल स्वच्छ होते। रूक्ष होने पर भी वह सघन केशराशि पावसघनके समान लहरा उठती। उनका श्रीअङ्ग निर्मल होता और वे निर्मल वस्त्र धारण किये मिलतीं। मुझे लगता—अपने जीवन का परम फल मैंने उनके इस वेशका दर्शन करके प्राप्त कर लिया। वे

स्नेहमयी—उनकी प्रसन्नता मेरे लिये कितनी बहुमूल्य थी, शब्द इसे व्यक्त नहीं कर सकेंगे।

उन्होंने सम्पूर्ण श्रृङ्गार छोड़ दिया था। तैलाभ्यंग, अङ्गराग, सुमन सज्जा, आभूषण—इनकी चर्चा व्यर्थ है। वे मर्यादामयी उनका सदन चित्र सज्जासे शून्य होगया था। उसकी भित्तियोंपर माल्य नहीं लगता था। वे भूमिशयन करती थीं और आहार--वह तो यदा किसी सुयोगमें किसीके आग्रहसे स्वीकार कर लें--कुछ कन्द-मूल ले लें, यही हम अपना सौभाग्य मानते।

उनकी धुनके दिवस भी कहाँ स्थिर रह पाते थे। उनमें अधिक तो औदास्य ही बना रहता। वस्त्र मलिन, श्रीअङ्ग धूसर, केशपाश उलझा-अपरिष्कृत। वीणा एवं दूसरे वाद्य जैसे सदाको विसर्जित होचुके हों। तूलिका एवं रङ्गपत्रों पर धूलि उड़ती। कर सूचीका स्पर्श नहीं करते। उद्यान अस्त-व्यस्त कानन बननेको उद्यत मिलता।

'वे कानन वासी ! उन्हें इन राजस उपकरणोंका प्रयोजन ?' भाभी के प्राण एक ही चिन्तनमें निरन्तर लीन। उसका रोम-रोम तन्मय।

'कुमार ! रुदनको पी लेनेकी अपेक्षा उत्तम है कि उसे बाहर आ जाने दो।' उनके पावन पदोंमें बैठकर सचमुच मैं अनेक बार शिशुओंके समान फूट-फूट कर रोया हूँ।

'यह श्रुतिकीर्ति—तुमने मेरी इस अनुजाको भी यह सब आडम्बर सिखला दिया।' अनेक बार वे मुझे स्नेहसे झिड़क देतीं—'व्यथाका अपार भार यह इस प्रकार कैसे सहन कर सकेगी ?'

कितने दारुण लगते उनकी उदासीनताके वे दिन—उनके वे निःश्वास, वह पीताभ अङ्ग, वह अजस्र अश्रुधारा एवं वह व्याकुल तड़पन ! किस महातापसकी तपस्या उनकी उस वियोग साधनाकी समता कर सकती है ?

———

२२--अपना अन्त:पुर

अपना अन्त:पुर शान्तिका, सुखका आवास होता है—यह इस अर्थमें ठीक है कि वहाँ पहुँच कर हमारी वेदना उन्मुक्त हो जाती थी। वहाँ न अश्रुओं पर अवरोध होता और न विश्वासों को निगडित करनेकी आवश्यकता।

अन्त:पुरका अर्थ क्रीड़ा-विलासकी भूमि—यह अर्थ तो श्रीरघुनाथके साथ चला गया था सुभद्र! उन अयोध्यानाथके साथ अयोध्याके जनोंका आनन्द उल्लास भी निर्वासित हो चुका था; किन्तु जो कृतिमता हमें अपने दैनिक जीवनमें अपनानी पड़ती थी – उससे अपने अन्त:पुर पहुँचकर हम परित्राण अवश्य पा जाते थे।

नियम नहीं था कि कौन पहिले पहुँचेगा वहां। कभी मुझे पर्याप्त विलम्ब होजाता था और यदा कदा देवि भी विवश हो उठती थीं कहीं जानेको।

वैसे हम अपने अन्त:पुरमें भी पूर्ण स्वच्छन्द नहीं थे सुभद्र! हमें उसे सुसज्जित रखना पड़ता था। सेविकायें नित्य पुष्पमाल्य सज्जित करतीं। रत्न शय्या एवं हैमपीठके आस्तरण नित्य निर्मल रखे जाते। हमारे अन्त:पुर—केवल हमारे अन्त:पुरसे अगुरुका सुरभित धूम्र उठता और अङ्गराग—वह तो आवश्यक उपकरण ठहरा।

माँ प्राय: हमारे यहाँ दिवसमें आ जाती थीं। उन्हें कितना क्लेश होता यदि वे हमारे भवन को भी सज्जा विरहित देख पातीं!

श्रुतिकीर्ति! तू अपने आवासमें भी इतना आडम्बर रख पाती है।' कभी छोटी भामी आ पहुँचतीं और उनकी अन्तर्दर्शिनी दृष्टिसे कोई मर्म कहाँ रहता है। वे स्नेह पूर्वक झिड़क देतीं—'कुमार! मेरी बहिनको इतना विवश मत करो—इतना विष चुपचाप तो नीलकण्ठ भी कदाचित् न पचा सकें।'

'जीजी!' उनके अङ्कमें मस्तक रखकर सिसकनेका सौभाग्य तो इनको सहज प्राप्त था।

❀ * *

अन्तःपुरका समस्त आडम्बर--किन्तु उसका कोई उपयोग कहाँ था। वहाँ प्रथम कौन पहुँचता है, इसका भी कुछ अर्थ नहीं रह गया था। स्वागतकी शक्ति ही कहाँ हृदयमें शेष रही थी।

हमारे शरीर सुवस्त्र सज्जित, रत्नाभरण अलंकृत हुए—न हुए, अन्तर तो प्रज्वलित हो था। भूमि पर, तृणासन पर, कक्षकोणमें—कहीं भी हम अपने आवासमें पहुँचकर गिर पड़ते थे। हमारी यही क्या कम सौभाग्य था कि हम वहाँ इस प्रकार गिर पड़ने तथा खुलकर सिसकनेको स्वतन्त्र हो पाते थे।

'देव !'

'देवि !'

झरते अरुण दृग, आर्द्र कपोल, निश्वास तप्त कण्ठ—हमारे चतुर्दश वर्षकी रात्रियोंकी केवल इतनी वार्ता—मैंने कभी केशोंमें कर उलझा लिये अथवा पीठ पर उन्हें घुमा दिया और इन्होंने कभी अङ्कसे मुख उठाकर मेरे साश्रुदृगोंको देख लिया। हमारे अन्तःपुरकी सम्पूर्ण रस वार्ता एवं रस क्रीड़ा यहीं परिसमाप्ति पाती थी।

जो रसरूप कहे जाते हैं, वे जब हमसे पृथक होकर वनमें चले गये—हमारे समीप क्रन्दन, अश्रु सिसकियाँ एवं कम्पका उपहार लेकर आदि रस करुण आ बैठा--स्थिर बन गया वह। जीवन जम गया होता—जड़त्वमें भी इतनी वेदना नहीं है। उसे प्रज्वलित होनेकी भी अनुमति नहीं थी। तुषाग्नि के समान वह सुलग रहा था—सुलगता जारहा था। अन्तःपुरमें पहुँचने पर उसका कषाय धूम एवं स्फुलिंग व्यक्त हो उठते थे।

'अरुण चूड़ आह्वान कर रहा है देव !' हम अर्धरात्रिसे किञ्चित अन्तःपुरमें पहुँच पाते थे। रुदन—सिसकियोंके मध्य भूमि पर बैठे-बैठे पलकें कुछ पलोंको निलीमित भी हो उठती होंगी—निद्राको वैसे हमने समझा नहीं। ब्राह्ममुहूर्तके प्रारम्भमें अरुण चूड़ सावधान करता था कि हमारा कर्तव्य हमें पुकार रहा है।

'उठता हूँ देवि !' शीघ्र हम दोनोंको अपने अश्रु मार्जित कर लेने पड़ते। निश्वास दबा दिये जाते एवं वेदना बन्दी हो जाती अन्तरमें। सेविकाओंके उपस्थित होनेसे पूर्व हम अपनेको स्वस्थ प्रदर्शित करनेको विवश थे। वही आडम्बर पूर्ण उल्लास दर्शन, कृतिम हास्य, उत्साह भंगिमा !!

* * *

'आज जीजीने दो घूँट दूध भी नहीं लिया !' हमारे समीप अपने एकान्त चर्चाका और क्या विषय हो सकता था। हृदय विदीर्ण हो उठता, जब सुनता मैं कि छोटी भाभी आज पूर्ण अनाहार रहीं हैं।

'माँ को आज जल ग्रहण करानेमें भी मैं सफल नहीं हुआ।' इस अभागेके समीप भी प्रायः इसी प्रकारके सम्वाद होते थे। दैव जब रूठ जाता है—कुसम्वादोंका ही तो प्राचुर्य होता है। हमसे जैसा दैव रूठा—जगदीश्वर, वह इस प्रकार किसीसे रुष्ट न हो।

'आर्यने आजसे तप्त—कृच्छ प्रारम्भ किया है।' इसका सीधा अर्थ कि आर्या भी इसे प्रारम्भ कर चुकी हैं और देविको अपनी उन बड़ी जीजी की सेवामें अधिक सावधान होना है।

'वे कहाँ कोई सेवा स्वीकार करती हैं।' बात सर्वथा ज्योंकी त्यों; किन्तु तप्तकृच्छका जो व्रत करेगा, उसके प्रति अपनी सावधानी—वे पूजनीया, उनका सुमन शरीर शुष्क हो चुका था। इतना क्षीण देह भी होता है—यह भी हमें देखना पड़ा।

* * *

विधिकी विडम्वना—दैवकी निष्ठुरताकी कोई सीमा नहीं सुभद्र ! हमें उपहार प्राप्त होते थे। प्रजाजन सप्रेम नाना प्रकारके उपहार ले आते और हम विवश थे उन्हें स्वीकार करनेको; किन्तु इतनेसे कहां इति हुई जाती थी। अनेक वार मां स्वयं कोई वस्तु लेकर आतीं—मेरी नन्हीं बहूके लिए !' वे स्नेहमयी उनका अपार वात्सल्य—अपने ये दारुण दिवस वे हम दोनोंको वात्सल्य प्रदान करके किसी प्रकार काट रही थीं—उनका वह उपहार ....।

उल्लास दर्शित करके हम उसे ले लेते; किन्तु उसका उपयोग–कितनी व्यथा देता वह उपयोग और उपयोग किये बिना हमारा छुटकारा कहाँ था। हाय रे दैव ! वे भुवन वन्द्या जिन्हें इसी उल्लाससे ये उपहार अर्पित करतीं—वन-वन भटक रही हैं वे आर्या।

'मेरी बच्ची !' इनको माँ प्रायः अङ्कमें बैठा लेती थीं। हम दोनों ही तो रह गये थे जिन्हें अलंकृत करके, जिन्हें कुछ खिलाकर उनका

वात्सल्य किञ्चित तुष्ट हो पाता। हम अपना जीवन देकर भी उन्हें प्रसन्न कर पाते.... ....।

'आर्य ! मध्यमा मांने आहार लिया या नहीं, पता नहीं लगता।' मेरी जननीके सम्बन्धमें अनेक बार देवि चिन्ता व्यक्त करतीं; किन्तु उनके लिये चिन्ता अकारण थी। वे तो स्वयं सबकी चिन्ता लिये बैठी थीं। मां अथवा छोटी भाभीको आहार देनेके प्रयत्नमें उन्हें स्वयं उसे ग्रहण करना पड़ता था। यदि किसी दिन ऐसा अवसर न आवे, दूसरे कैसे जान सकते थे कि उन्होंने आहार स्वीकार किया या नहीं। उन्हें स्वयं कहां उसकी सुधि रहती थी।

* * *

व्यथा, अश्रु, निश्वास—इनके अतिरिक्त अयोध्यामें और रह क्या गया था। मेरे अपने अन्तःपुरमें विशेषता इतनी थी कि इन्हें हम केवल तब व्यक्त कर सकते थे, जब रात्रिका नीरव एकान्त हमें स्वतन्त्र कर दे। अन्यथा वहाँ भी इन्हें अन्तरमें दबाये साज सज्जा, कृत्रिम उल्लासादि व्यक्त करनेको हम विवश थे।

हम दोनोंकी विवशता—अपने एकान्तमें जब उस विवशताका बन्धन शिथिल होता, बाँध विच्छिन्न होने पर अवरुद्ध प्रवाहका वेग तो तुमने देखा ही है - शोक एवं रुदनके उस वेगकी कथा ही है हमारे अन्तपुर की पूरे चतुर्दश वर्षकी रात्रि-कथा।

२३—नन्दिग्रामकी पर्णकुटी

हमारा केन्द्र अब नगर नहीं रह गया था, यह तुम जानते हो। अवधके चक्रवर्ती साम्राज्यका राजसिंहासन नन्दिग्राममें पर्ण कुटीमें स्थापित था और उस पर स्थापित थीं अपने बनवासी सम्राट्की चरण पादुकायें। सम्राट्के प्रतिनिधि अपने सम्राट्के अनुरूप ही वेशमें तो रहेंगे और उसके अनुरूप ही होगा उनका आचरण !

हमारे महान अग्रजने सम्पूर्ण वस्त्राभरण त्याग दिये थे। उनके शरीर पर वल्कल शोभित होता था। उन्होंने भी जटायें नहीं बनायीं थी;

उनकी सुकुमार धनकृष्ण घुँघराली केशराशि अब उलझ चुकी थी। इषत् कपिशाग्र हो चुके थे उनके केश। भगवान शशाङ्कशेखरने जैसे द्विनेत्र, द्विभुज वेश धारण करके चन्द्रमाको विदा दे दी हो।

भूमिका निखनन करके निम्नभागमें आर्यने कुशस्तरण किया और उस पर ऐणेयाजिन भी उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। वे उस तृणासन पर ही बने रहे! वही उनका शयनासन, ध्यानासन, कार्यासन आदि सब बना रहा।

त्रिकाल स्नान एवं सिंहासनस्थ पादुकाओंकी परिचर्या—उन तपोमय के जीवनमें अनेकताका प्रवेश नहीं था। वायुके पद भी पर्ण कुटीमें संयमित हो उठते थे। आर्य कभी आराध्य पादुकाद्वय पर छत्र धारण कराते, कभी व्यजन करते, कभी चामर करते और कभी गन्ध, पुष्पादिसे उनका अर्चन सम्पन्न करते।

उनका 'गोमूत्र यावक व्रत'—सुभद्र! वृषम श्रेष्ठको सादर यव समर्पित किया जाता था। वह यव जब उसके गोमयसे पुनः उपलब्ध होता तब उस गोमय प्राप्त यवको कपिलाके पावन गोमूत्रमें परिपक्व किया जाता और केवल एक बार यह 'गोमूत्र यावक' ही आर्यका आहार था।

यह आहार—कहाँ चल पाता था यह आहार भी नियम पूर्वक। चान्द्रायण, कृच्छचान्द्रायण, तप्तकृच्छ—इन व्रतोंका कोई पार है। एकादशी प्रदोष प्रभृति नित्य व्रत ही कहाँ कम पड़ते हैं और आर्य तो जैसे इनकी प्रतीक्षा करते हों। व्रत—वह निर्जल सम्पन्न न किया जावे तो व्रत कैसा।

क्षीण—क्षीणतर होता गया उनका वह भुवन सुन्दर श्रीअङ्ग। अस्थि, चर्म एवं स्नायुजाल ; किन्तु सुभद्र! उस श्रीअङ्गसे जो नीलोज्वल कान्ति प्रस्फुटित होती थी, जो देहकी क्षीणताके साथ प्रखरसे प्रखरतम होती जारही थी—मुझे ही लगता था कि आर्यका श्रीविग्रह केवल तेजोघन है। उसमें पार्थिव स्थूलत्व विलुप्त होता चला जारहा था। उनके सान्निध्यमें वे हमें अपार्थिव भासित होने लगे थे।

* * *

जहाँ सम्राट्का सिंहासन, जहां सम्राट्के प्रतिनिधि, वहीं सम्राट्के परिकर। अमात्यवृन्द, राजसेवक, प्रजा-प्रधान ; सभी अपने कार्योंका निवेदन करने एवं आदेश प्राप्त करने उस पर्ण कुटीकी ओर देखते।

महर्षिगण, मुनि मण्डली, द्विजवृन्द, अधीत—विद्यजन वहाँ पधारते। पर्ण कुटी तो पर्णकुटी ही रहेगी। वह कोई राजसदन तो नहीं। द्वारपाल

वहाँ रहे, पर्णकुटीकी मर्यादा कैसे रहेगी। प्रजाजन, भावुक साधक, पुण्य प्राण ग्रामजन दूरस्थ प्रदेशोंसे 'अवधके महातापस' का दर्शन करने पधारते।

'अवधके महातापस'--श्रद्धालु जनोंने आर्यको यह नाम अकारण तो नहीं दिया था। उनकी अविरल आराधना, एकान्त परिचर्या, नैष्ठिकी तितीक्षा—अरण्यवासी मुनि भी कम ही उसकी स्पर्धा कर सकते थे।

'तपस्पी रूक्षशील हो जाता है।' सुना भी था और देखा भी था; किन्तु कहाँ स्पर्श किया रूक्षताने हमारे 'अवधके महातापस' को। उनका शील, उनकी विनम्रता, उनकी सहृदयता—उनका श्रो विग्रह तो जैसे स्नेहघन ही था।

शैथिल्य, प्रमाद, अवसाद--नन्दिग्रामकी पर्णकुटीमें इनके प्रवेशके लिए स्थान नहीं था। इनके अधिदेवताओंमें भी साहस नहीं था कि वे हमारे 'महातापस' की ओर दृष्टि उठाते।

आराधना अखण्ड चलती रहती, अखण्ड चलता रहता राजकार्य एवं आगतोंकी अभ्यर्थना भी चलती रहती। न कहीं त्रुटि, न कहीं रूक्षता, न कहीं मनोयोगका अभाव--आर्यकी निपुणता एवं निष्ठाकी तुलना नहीं है सुभद्र!

अमात्योंका वे विवरण सुनते, राज्यके कर्मचारी प्रमुखोंके कार्यों पर विचार करते, प्रजा-प्रधानोंसे विमर्श करते, आगतजनोंका मन्तव्य श्रवण करते—यह सब करते हुये प्रत्येक राजकार्य सिंहासनस्थ पादुकाओंके प्रति अत्यन्त आदर-पूर्वक वे निवेदन करते। उचित कर्तव्यके प्रति आदेश माँगते विनय पूर्वक और तब उसे क्रियान्वित करते। सुना था--सच्चिदानन्दनघन श्रीहरिके प्रत्येक उपकरण चिद्घन हैं; किन्तु प्रत्यक्ष देखा कि आर्यके लिये वे पादुकायें साक्षात् चेतन थीं। उनके चित्तमें क्षणार्धके लिये भी यह धारणा स्थान नहीं पा सकी--'पादुका जड़ हैं।'

एकाकी आर्य सम्पूर्ण शासनके केन्द्र—प्रत्येक विभाग प्रत्येक केन्द्रकी छोटी-बड़ी सभी बातोंका वे स्वयं विवरण लेते, स्वयं कर्तव्यका निर्देश करते और यह सब करते हुए उनके मनमें स्वप्नमें भी नहीं आया कि वे शासनके सूत्र सञ्चालक हैं। इतना विशाल अवध-साम्राज्य, उसके इतने विभिन्न कार्य केन्द्र और सबका एक प्रमुख, एक सञ्चालक! उसकी व्यस्ताका कोई पार है।

'सम्राट्का आदेश इस सम्बन्ध में इस सेवकको ऐसा जान पड़ता है।' आर्यकी भाषा कभी निर्देश देने वाली नहीं बनी। उन्होंने सामान्य राज सेवकोंके प्रति भी अधिकारकी भाषा भूलकर भी अपनायी नहीं। एक नम्रतम सम्मति सूचक—जैसे सम्पूर्ण दायित्वको सम्हाल कर भी वे उसे स्पर्श तक नहीं करते।

'जीवन जल में जलजपत्रवत् असंपृक्त रहे।' यह श्रुतिशास्त्र-सत्पुरुष-वाणी किसने श्रवण नहीं की ; किन्तु आर्य धरा पर अवतरित न हुए होते, इस आदर्शके अनुगामी धरित्री भले पा लेती, आदर्श प्राणवान नहीं बन सकता था। आर्यके श्री विग्रह में वह साकार होकर सप्राण होगया।

एक वल्कलधारी, तृणाशनशायी, गोमूत्र-यावक व्रती, कृशकाय, तीव्र तापस अपने सम्पूर्ण नियमोंका सम्यक निर्वाह करते हुये अवधके साम्राज्यका शासन सूत्र सञ्चालित करता रहेगा - स्रष्टा ने भी सोचा नहीं होगा।

जो सिंहासनके भी प्रणम्य हैं—सुरासुर वन्दित उन महर्षियोंका अवध से कब सम्यक सम्मान नहीं हुआ। आर्यके उटज में उनके लिये अर्घ्य, पाद्यकी नित्य प्रस्तुति विद्यमान रहती ही और एक तापसके उटजमें तृणासन स्वीकार करना सुरों का भी सम्मान ही है।

अमात्यगण, प्रजा प्रधान, सुहृदवर्गके सम्मुख आर्य नित्य विनम्र होते हुए भी मर्यादा पूर्ण थे। वे सम्राट्के सिंहासनके सम्मुख उपस्थित हैं, उनकी किसी भङ्गी ने इस धारणाके प्रति प्रमाद नहीं होने दिया। अपनेको आर्य ने नित्य पादुकाओंके प्रति उन्मुख रखा, उनकी परिचर्या चलती रही। राज सिंहासन पर सम्राट् आसीन हों, उनका प्रधान अमात्य जिस भङ्गी से विवरण लेता एवं उसे सम्राट्को निवेदित करके उनके आदेश सूचित कर देता है—एकरस, अखण्ड भङ्गी आर्यकी यह बन गयी। उनकी आराधना में च्युतिको स्थान नहीं था।

* * *

सम्पूर्ण प्रजा एक प्राण, एकमन—सबका स्नेह, सबका सौहार्द्र, सबका सम्यक् सहयोग हमें प्राप्त था। सुरोंकी असीम अनुकम्पा हमें मिली कहीं कोई समस्या शासनमें आती है—हमने जाना ही नहीं।

श्री रघुनाथका राज्य—उनका वैभव है, उनकी सेवाके लिये कार्य करना है—जन-जन का अन्तर एक ही आवेग में आबद्ध ! हमारा कोष, हमारा, पशुधन, हमारे उद्यान, हमारे कृषकोंकी शस्य सम्पत्ति एवं हमारे

कला जीवियोंकी कला—प्रत्येक दिशा में राज्य अद्भुत उन्नति कर रहा था—करता ही चला जारहा था ।

सुभद्र ! व्यय अल्पतम होगया था और उद्योगको श्री रघुनाथके प्रेमका आवेश प्राप्त हो गया था । अपने वनवासी सम्राट्के वियोगने प्रायः सबको व्रती बना दिया था । उपभोग नहीं—अत्यल्प आवश्यकता, संयमी जीवन और श्री रघुनाथके लिए श्रमका उत्साह—साक्षात् श्री जैसे हमारे प्रत्येक उपवन, कानन, क्षेत्र, निलय, आकर एवं पशुओंको अपने कमलकरों के स्पर्श से अभिवर्धित करने में संलग्न हो गयी थीं ।

कुलगुरुकी करुणा और आर्य का तप—आधि-व्याधिका हमने केवल नाम सुना है । पावस एवं आतप—अवध के क्षुद्र प्रजाजन ने भी जब जिसकी आवश्यकता अनुभव की....गगन सेवा में प्रस्तुत प्राप्त हुआ उसे ।

हमारे अभियोग भी पहुँचते थे आर्यके चरणों में और प्रायः वे प्रजाप्रमुख इस जनके विपरीत ही उपस्थित करते थे—'देव ! कुमार हमारे प्रति अत्यन्त अनुदार हो गये हैं । अनुरोध आपके श्री चरणों में सार्थक न हो—कहाँ आश्रय पावेगा ?'

'उत्पादनका षष्ठमांश राज्य कोष में प्राप्त हो चुका है देव !' मेरे स्पष्टीकरणका अमात्योंको समर्थन करना ही था—'अधिक स्वीकार करना उचित नहीं होगा और अनुरोध तो लगता है कि उत्पादन का दशांश त्याग कर शेष सब राज्य स्वीकार कर ले ।'

'देव ! राज्य श्री रघुनाथ का' प्रजा प्रमुख सत्य नहीं कहते, यह कोई कैसे कह देगा—'हमारे क्षेत्र जो अनायास, अनाकर्षित उत्पन्न कर रहे हैं, वह हमारा परिश्रम कहाँ है । धरा अपने स्वामीके लिये जो कुछ व्यक्त करती है, उसमें से अपनी आवश्यकता से अधिक ही हमने रख लिया है । अब शेष नष्ट हो, यह क्या उचित होगा ? श्री रघुनाथका कोषागार उसे सुरक्षित नहीं करेगा, हम कहाँ जायेंगे उसे न्यस्त करने ?'

गोष्ठों से गौओं एवं वृषभोंकी बहुलताके नित्य नवीन सम्वाद, वनों से ऐरावत जातोय गजोंके यूथ आ खड़े होते अपने आप गजशाला में और कब कहाँ से कौन किस अलभ्य कोटिका अश्व ले आया—गणना करना अशक्य हो गया था ।

आकरोंके अधिपति रत्नरादि उठा नहीं पाते थे । उपवन एवं वनों में फलोंकी ऋतु समाप्त ही नहीं होरही थी और सबका आग्रह—राज्य

सबको स्वीकार करे। रघुनाथका राज्य—रघुनाथ सबके अपने—सबके अमित उपहार और राज्य उन्हें स्वीकार करने में असमर्थ हो तो वे अभियोग उपस्थित नहीं करेंगे ?

स्नेह सदा विजयी होता है सुभद्र ! प्रजा प्रधानोंके अभियोगके सम्मुख मस्तक झुका देनेके अतिरिक्त मेरे सम्मुख और उपाय क्या था ?

'कुमार ! प्रजा उत्साहातिरेक में उत्पादनका अधिकांश अर्पित करके अभावका अनुभव न करे !' आर्यका आदेश मुझे बार-बार मिला—'उनके अनुरोधको स्वीकार करके, चरोंके द्वारा उनकी स्थिति से अवगत रहना है।'

हमारे चरोंका एक ही कार्य रह गया था—कोई अभाव ग्रस्त तो नहीं यह पता लगाकर उसकी अज्ञात दशा में ही आवश्यकताके पदार्थ उसके सदन में उपलब्ध कर देना।

* * *

प्रायः सायं सन्ध्याके अनन्तर मैं आर्यके चरणों में उपस्थित होता था। रात्रिका प्रथम प्रहर व्यतीत होते ही अमात्य एवं प्रजा प्रधान वन्दन करके विदा हो जाते और तब राज सदनके समाचार मैं आर्यको निवेदन करता।

श्री रघुनाथके स्वजनोंकी चर्चा—उसे कहाँ तक कैसे कहूँ सुभद्र ! उनके सदनके शुक सारिका, उनके क्रीड़ामृग, उनके अश्व—जिन्होंने भगवती धरानन्दिनीके करोंसे आहार पाया था, उन भुवन वन्दनीया ने जिन्हें अत्यन्त स्नेहसे लालित किया था, जिन्हें श्री रघुनाथ ने अपने श्रीकरों से सम्मानित किया था—उन पशु-पक्षियों का सम्वाद आर्य पूछते।

मेरे समीप क्या था सम्वाद देनेको—वे अस्थिपञ्जर अश्व, वे प्राणावशेष पक्षी—श्री रघुनाथ पधारेंगे—हमारी इस आश्वासन वाणीको जैसे वे समझ लेते थे। माँके अपने करों से अर्पित तृण अन्न में से वे यत् किञ्चित् ग्रहण कर लेते थे। उनके नेत्रोंका अजस्र प्रवाह—उनकी हृदय विदारक चीत्कार—जब अश्व हिंकारते जब मृग डकार उठता—जब शुक या सारिका व्याकुल पुकार उठती—'रघुनाथ जी ! श्री जनक नन्दिनी !' किसका हृदय स्थिर रह सकता था और इस हत भाग्यके समीप दूसरे सम्वाद भी क्या हो सकते थे।

२४–पुरजन

अवध राज्यके नागरिक हमारे लिए सामान्य प्रजाजन कभी रहे ही नहीं। वे राजधानी से कितनी भी दूर रहते हों, हमारे स्वजन ही रहे हैं। नागरिक तो अत्यन्त आत्मीय थे हमारे। शैशवसे हमारे व्यक्तित्व में वे घुले मिले थे।

श्री रघुनाथके सखा थे पर्याप्त अधिक। पितृ चरणोंके वय: समकक्ष जनों को हम पितृव्य कहते थे और महिलाओं में भी अधिकांश हमारी मातृतुल्या थीं। श्री रघुनाथ वन चले गये—जैसे वे हम सबके अपने होकर भी उच्च-उच्चतम हो गये। वे आराध्य हो गये हम सबके। सखाओंकी बात ही नहीं, जिन्हें वे पितृव्य कहते थे, वे भी अब उनका स्मरण अत्यन्त आदर पूर्वक ही करते थे। नन्दिग्राम में अग्रज ने जो मुनिजन अगम्य तप प्रारम्भ किया था, उसने उन्हें भी स्नेह, प्रेम से ऊपर उठाकर श्रद्धाके सिंहासन पर आसीन कर दिया। दूसरोंकी चर्चा नहीं सुभद्र ! माँ को तथा कुलगुरुको भी अब उन्हें 'वत्स !' सम्बोधन में संकोच होता था। वे उन्हें अब 'तात !' कहकर भी जैसे संकुचित होते थे।

केवल मेरा यह सौभाग्य था—अब भी है कि मैं पुरजनों का अपना हूँ। सखा मेरे सखा हैं एवं वृद्धोंका मैं स्नेह पात्र हूँ। मुझसे किसीको संकोच नहीं। अपनी बात वे मुझसे सरलता से कह पाते हैं। उनके इस सौहार्द्र ने मुझे धन्य किया ; किन्तु वह स्नेह भी भाग्य में नहीं था। मैं यहाँ आया और यहाँ तुम लोग पता नहीं क्यों शत्रुघ्नको अपना स्वजन नहीं समझ सके। मुझमें यहाँ क्या त्रुटि आयी ……… ….।

'हमारे स्वामी ! हमारे परित्राता ! हमारी श्रद्धा श्री चरणों में कभी शिथिल …… ।' लेकिन सुभद्रको आगे कहने का अवसर नहीं मिला।

'इस श्रद्धाकी अपेक्षा शत्रुघ्न अधिक सुखी हुआ होता सुभद्र !' कुमार कह रहे थे—'यदि अवधके समान आप सब कहते—'हमारे बन्धु !' आपके कुमार निःसंकोच सदन में दौड़ आते और हाथ पकड़कर कहते 'पितृव्य !' किन्तु यह दोष न तुम्हारा है, न मेरा। यह तो सिंहासन का दोष है, जो

अपने आरोहीको श्रद्धा भले दिला सके, स्नेह से—सौहार्द्र से दूर कर देता है।

※ ※ ※

अवधके पुरजन हमारे स्वजन थे और उनके सर्वाधिक श्रद्धाभाजन वन में—सबकी व्यथा समान थी। आर्यके तप ने उस व्यथाको एक दिशा न दे दी होती—अयोध्या जन हीन हो जाती। इस दारुन वेदनाको चतुर्दश वर्ष वहन करना अत्यन्त कठिन था।

आर्यके तप ने वेदनाको पथ-प्रदान किया। वह व्रत, अनुष्ठान, अर्चन में लगकर परिसीमित हुई। अवधका जन-जन व्रती—कितने प्रकार के अनुष्ठान अर्चनादि चल रहे थे; श्रद्धाके स्रोतोंकी सीमा तो नहीं है। जिसकी जैसी रुचि, जैसी आस्था, जैसा अधिकार—अध्यात्मका क्षेत्र अपने लक्ष्य में एक होकर अनेक है।

लक्ष्य—किन्तु अवध में अर्चनादिका लक्ष्य चतुर्वर्ग में से कुछ नहीं था। सबके अर्चनाकी प्रणाली; व्रतके प्रकार, आराध्यके स्वरूप एवं आराधनाके मन्त्र चाहे जितने भिन्न हों, सबका संकल्प समान था। लक्ष्य में सब एक थे—'श्री रघुनाथ कानन में सानुज सानन्द रहें एवं सकुशल लौटें।'

गृहस्थ क्रिया त्याग कर आश्रम भ्रष्ट हो जाता है। उसकी आराधना प्रमाद बन जाती है यदि वह उसके सामान्य कर्तव्य में अवरोध उपस्थित करे। अवध में प्रमाद का प्रवेश नहीं सुभद्र ! व्रत, अनुष्ठान, अर्चन चलते रहे; किन्तु उनके प्रेरक आर्यकी कर्मनिष्ठा सम्मुख थी हम सबके। हमें प्रमाद कैसे स्पर्श कर सकता था।

※ ※ ※

'श्री रघुनाथके लौटने पर उनकी सेवा में कुछ उपस्थित करना है।' आर्यके तप ने वेदनाको आराधना की दिशा दी थी तो अपने परम श्रद्धेयके स्वागतकी धारण ने क्रिया शक्तिको साधार बनाया।

सबके श्रमको दिशा प्राप्त थी। व्रतस्थ जीवन ने जीवनकी आवश्यकताओंको सीमातीत संकुचित कर दिया। उनकी ओर दृष्टिपात अनावश्यक हो गया। व्रती—वह व्रती नहीं जो समीपस्थोंको सुविधा देने एवं उनकी सेवाके सुअवसर पानेके प्रयत्न में न रहे। त्याग एवं प्रदान—अवध में जैसे ग्रहण स्वयं अग्राह्य बनता जारहा था और इसका सुफल—कोई भी उसे समझ सकता है।

'श्री रघुनाथ वन में हैं।' इस वेदनाका समाधान कहीं नहीं था। एक दावाग्नि लगी थी जन-जन के मन में—'श्री विदेह राजकुमारी, अवधकी मनोनीत साम्राज्ञी और वे घोर अरण्य में। उटज में निवास करती हैं वे !' चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जो आर्त क्रन्दन कर उठता।

कौन किसको सांत्वना दे। कौन कैसे किसको सम्हाले। एकका रुदन दूसरेको अस्तव्यस्त करता था। एककी वेदना दूसरेको व्याकुल बनाती थी। और यह वेदना—त्याग स्वभाव बन गया और भोग विष प्रतीत होने लगे।

'कुमार !' सभीका स्नेह जैसे उमड़ पड़ता था—'तुम्हारा श्री अङ्ग भी क्षीण हो रहा है कुमार।'

मैं क्या करता ! मेरा शरीर-- पता नहीं क्यों वह सभीको दुर्बल होता लगता था। उससे वेदना बढ़ती—मैं अपनेको सज्जित रख सकता था, मुख पर कृतिम स्मित भी बनाये रख सकता था ; किन्तु देहके दौर्बल्यको कैसे रोकता मैं !

'कुमार ? किञ्चित् आहार भी तुम इस गृह में ग्रहण नहीं करोगे ?'

'कुमार ! यह अल्प उपहार भी इस जनका अब अग्राह्य हो गया ?'

'श्री रघुनाथ नहीं' सबके पीछे एक स्मृति—एक हाहाकार ! और अभागे कुमारको अपनी दारुण वेदना दबाकर सब स्वीकार करते चलना था। वह किसका स्नेहाग्रह अस्वीकार कर दे ! इस प्रकार हमारे दिवस सप्ताह बने, सप्ताह मास और मास वर्ष बनते चले गये।
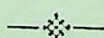
२५—कपि सम्वाद

वर्ष व्यतीत होते गये और हमारी आशा हमें उल्लसित करने लगी। श्रीरघुनाथके लौटनेमें अब वर्ष नहीं, सप्ताहोंकी अवधि शेष रह गयी थी। एक-एक पल कल्पके समान ; किन्तु इन कल्पीभूत पलोंके रूपमें हमने वर्ष व्यतीत किये थे। हमारे प्राण दिन गिन रहे थे। हम सूर्योदयसे सूर्योदय तक पता नहीं कितनी बार उन अवशिष्ट दिनोंकी गणना करते थे।

चित्रकूटसे श्रीरघुनाथने जबसे प्रस्थान किया—महर्षि शरभङ्गके आश्रम तक का हमें समाचार प्राप्त हुआ। उसके आगे दुर्गम दण्डकारण्यका सीमान्त प्रदेश प्रारम्भ हो जाता है। आज तो सम्पूर्ण दक्षिणापथ आर्यने प्रशस्त कर दिया है; किन्तु उस समय वह आचार्य शुक्र द्वारा प्रशस्त घोर अरण्य-अमित तेजा महर्षि अगस्त्यके आश्रमके अतिररिक्त वहाँ रह कौन सकता था? महर्षि मतङ्गके आश्रम तक तो नैकषेयोंके आक्रमण होते थे। ऋषि-मुनियोंके समुदाय उन पिशिताशनोंके आहार बन चुके थे।

महर्षि अगस्त्यके तपोधन शिष्य सुतीक्ष्ण मुनिने दण्डकारण्यके सीमान्त पर अपना आवास बनाया था। अरण्यके अन्तः भागमें पितृचरणोंके अरण्य मित्र पक्षिराज जटायु कहीं रहते थे—सुना था हमने; किन्तु राक्षसाधिप दशग्रीवके स्वसुर मयका प्रदेश—खरदूषण एवं त्रिशिरा जहाँ अपनी महती सेना लिये दारुण हिंसा-प्रिय उन्मुक्त विचरण करते हों—रात्रिचरोंके आवास उस अरण्यका समाचार हमें कैसे प्राप्त होता?

हमने अब प्रबल प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। निषादराज गुहके जन महर्षि शरभङ्गके आश्रमसे भी आगे तक नियुक्त थे—प्राण उत्कट प्रतीक्षा कर रहे थे—कोई तो आकर कहे—'श्रीरघुनाथके लौटनेका समाचार आया है।' किन्तु सुभद्र! जिन्हें पृथ्वीके पथसे प्रत्यावर्तित होना नहीं था, उनका समाचार कैसे आता? वे कहाँ भारत भूमि पर थे कि चर उनका कोई वृत्त ज्ञात कर सकते।

* * *

उस दिन मैं आर्यके समीपसे रात्रिके द्वितीय प्रहरके प्रारम्भमें ही राज सदन चला आया। प्रतिदिनके अनुसार माँ को, माता कैकेयी को, छोटी भाभीको अभिवादन करके नन्दिग्रामके समाचार निवेदन करके मैं अपने अन्तःपुरमें आया।

मैं अपने अन्तःपुरमें आया और नन्दिग्रामसे चर आया—'तत्काल राज्यासनके प्रतिनिधि श्रीभरतजीने आपको स्मरण किया है।'

चरने इतना और सुना दिया—'एक कोई महाकपि गगनपथसे आया है और लक्षणोंसे वह अपना शुभैषी प्रतीत होता है।'

रात्रिके द्वितीय प्रहरमें आर्यने स्मरण किया! कपि आया है! श्रीरघुनाथका सम्वाद ·· ····' मैं जिस अवस्थामें था, उसीमें उठ खड़ा हुआ। दो क्षणमें मेरा अश्व पूरे वेगसे नन्दिग्रामके राजपथ पर दौड़ा जारहा था।

सम्भवत: चरके मुखसे नगरमें भी यह सम्वाद प्राप्त होगया था। मेरे अकस्मात् प्रस्थानने भी नागरिकोंको उत्सुक बनाया। महामात्य सुमन्त्र को तथा कुलगुरुको आर्यने सन्देश भेज दिया था। महामात्य लगभग मेरे साथ ही पहुँचे।

* * *

'क्या हुआ ? कुमार मध्यरात्रिमें इस तीव्रतासे नन्दिग्राम क्यों जा रहे हैं ?' नागरिकोंका समुदाय समुत्सुक हो उठा और अवधके नगरपाल तथा हमारे सेनापति कभी प्रमत्त नहीं हुए। नगरपालने अपने सम्पूर्ण शूरोंको सावधान कर दिया। सेनाध्यक्ष विजय वाहिनीको सावधानीका आदेश देकर मेरे पीछे ही नन्दिग्राम पहुँच गये।

'अद्‌भुत अभ्यागत है कोई !' मैं मार्गमें अश्व परसे चौंक गया। नन्दिग्रामके उटजके लगभग ऊपर ही गगनमें एक सुविशाल गिर-शिविर निराधार, निश्चल स्थित दृष्टि पड़ा। कुतूहलके लिये मुझे अवकाश कहाँ था। उटजके द्वारके सम्मुख किञ्चित दूर अश्वसे मैं कूदा और देख लिया मैंने कि आर्य स्वयं अभ्यागत कपिको लिए आगे आ रहे हैं।

मैं आर्यके पुनीत पदोंमें प्रणिपात करके उठा ही था कि कपि मेरे पदोंमें प्रणत हुआ। मैंने अङ्कमाल दी और आर्यका मेघ गम्भीर स्वर गूँजा—'कुमार ! ये पवन-पुत्र हैं। श्रीरघुनाथके स्नेह भाजन एवं उनके सेनानी। इन्हें राजसदन ले चलना है। माँ इनके मुखसे ही श्रीरघुनाथका सम्वाद सुनना चाहेंगी। कुलगुरु वहीं पधारेंगे। मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ। इन्हें अवकाश नहीं है यहाँ विलम्बित होने का।'

'आप उसकी चिन्ता न करें।' मुझे ऊपर गगनमें स्थिर पर्वतकी ओर देखते पवन कुमारने लक्ष्य किया—'मेरे पिता उसे स्थिर रखनेमें समर्थ हैं। जब तक मैं उसे सम्हाल न लूँ, वह वहीं स्थिर रहेगा।'

'इस विशाल गिरि शिखर को गगन पथसे इन्हें ले जाते देखकर मैंने समझा—कोई राक्षस है।' आर्यके स्वरमें खेद स्पष्ट था—'मेरे धनुषसे वाण छूट गया। कुशल हुई, करोमें फररहित शायक था ; किन्तु महाभाग को मूर्छित करके भूपतित करनेका अपराध तो मैंने किया ही। अपनी असीम अनुकम्पासे इन्होंने मुझे क्षमा ……।'

'स्वामी ! आप इस सेवकके प्रति यह क्या कहते हैं ?' कपि श्रेष्ठ आर्यके चरणों पर ही गिर पड़े—'मेरे महान पुण्य उदित हुए। मेरे नाथ

श्री रघुनाथ जी ने मुझ पर कृपा की ! आपका वाण निमित्त न बनता—उनके इन गुणगणैक धाम अनुजके श्री चरणों का दर्शन कैसे होता मुझे ? जिनके गुणों का वे श्री मुखसे वर्णन करते थकित नहीं होते । मेरे सौभाग्य की आज सीमा नहीं है । मैं आज श्री राघवेन्द्र की जननीके पुण्य पदोंमें मस्तक रख सकूँगा ।'

'आप !' आर्यने सहसा उपस्थित हुए महा सेनाध्यक्ष की ओर देखा ।

'असमय की उपस्थितिके लिए श्री चरण क्षमा करेंगे ।' सेनापतिने सहज नम्रता पूर्वक प्रार्थना की—'कुमारके अकस्मात् यहाँ आगमनका समाचार प्राप्त हुआ । सेवक को सावधान तो रहना चाहिये प्रभु !'

'आपकी महावाहिनी प्रस्तुत है !' आर्यके श्रीमुख पर आज स्मितके दर्शन हुए—'आशा नहीं कि उसे सेवा का कोई सुअवसर प्राप्त हो । कुलगुरु राजसदन पधारेंगे । हम सब वहीं आदेश प्राप्त कर सकते हैं ।'

हम सबने राजसदन की ओर कपिके साथ प्रस्थान किया ।

* * *

'श्री रघुनाथने दण्डकारण्यमें पञ्चवटी को अपने निवाससे सनाथ किया था ।' श्री पवन कुमार को अत्यन्त त्वरा थी । उन्होंने माताओं को तथा कुलगुरु को सादन प्रणिपात करके अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें सुनाया—'पक्षिराज जटायुसे उनका परिचय प्रारम्भमें ही होगया था । आस-पासके काननमें विचरण करते अनुज एवं श्री जनक नन्दिनी जी के साथ वहाँ वे अनेक वर्ष सानन्द रहे ।'

'पञ्चवटीसे जनस्थान समीप ही है, जहाँ रावण की बहिन शूर्पणखा अपने खरदूषणादि भाइयोंके साथ निवास करती थी । उसे दशाननने प्रान्ताध्यक्षा नियुक्त कर दिया था । सहसा वह वनमें घूमती श्री रघुनाथके आश्रमके निकट आ निकली और उन भुवन मोहन को देखते ही धैर्य खो बैठी ।'

'श्री रघुनाथका अद्‌भुत सौन्दर्य मुनियोंके मन को भी मुग्ध करने वाला है । सूर्पणखा विमुग्ध हुई, कोई आश्चर्य की बात नहीं थी ; किन्तु उस कुलटाने दोनों भाइयोंसे बारी बारीसे अपने को स्वीकार कर लेने की प्रार्थना की ।'

सुभद्र ! मैं देख रहा था कि छोटी भाभीके मुख पर स्मित रेखा आई आज वर्षोंके पश्चात् । कपि श्रेष्ठ का ध्यान कहीं नहीं था । वे अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक समाचार सुना रहे थे ।

'जिसमें निष्ठा नहीं, समर्पण नहीं—उसकी वासना तो केवल स्वतृप्ति चाहती है । पर का पीड़न—शोषण करके भी उसे तुष्टि चाहिये । अनाचार का यह कलुष—व्यभिचार नित्य दण्डनीय है और उस दुष्टाने तो जब देखा कि उसकी कामना दो में से किसी कुमारके चरणों की छाया नहीं छू सकती तो भयङ्कर रूप धारण करके वह भगवती वैदेही को ही भक्षण करने झपटी । श्री रघुनाथ जी के संकेत पर कुमार लक्ष्मणने उसे नासिका-श्रवण-हीन कर दिया ।

'सूर्पणखा रक्त बहाती भागी और स्वाभाविक था कि खर-दूषण-त्रिशिरा अपनी अध्यक्षा एवं बहिन का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न करते । उन्होंने अपने सम्पूर्ण सैनिकोंके साथ आक्रमण कर दिया । कुमार लक्ष्मण श्री जनक-नन्दिनी को लेकर युद्ध-भूमिसे किञ्चित काल को पृथक हट गये प्रभुके आदेशसे । मुहूर्त भरके भीतर चतुर्दश सहस्र राक्षसी सेना अपने नायकोंके साथ श्री रामके शरोंसे पवित्र होकर परमधाम पहुँच चुकी थी । युद्ध भूमिमें छिन्न भिन्न शव, आयुध एवं आभरण—रक्त, मांस मेद—पिशिताशनोंके तर्पण की भूमि बन गयी वह ।'

'सूर्पणखा यह महाबलि देकर भी सन्तुष्ट नहीं हुई । वह लङ्का पहुँची । दशग्रीव खर-दूषणके समान कोरा शूर नहीं, वह महाशूरके साथ परम नीतिज्ञ है । उसे स्पष्ट प्रतीत हो गया कि खर-दूषणके संहारक को सम्मुख समरमें कदाचित् ही वह पराजित कर सके । पवित्र भारत भूमि पर वह संग्राम करे—कदाचित् उसे भय होगा कि श्री रामके और सहायक एकत्र हो जायँ ।'

'महामायावो मारीच को साथ लेकर वह स्वयं बिना किसी सन्य-सहायकके जनस्थान आया । मारीचने मायासे अपने को स्वर्ण मृग बना लिया । भगवती जानकीने प्रभुसे उस अद्‌भुत मृगके चर्म को पानेका अनुरोध किया । प्रभु उसके पीछे दौड़े । दूर जाकर मृग बने राक्षस पर जब श्री राघवेन्द्र का अमोघ वाण पड़ा, प्राण छोड़ते छोड़ते भी 'हा लक्ष्मण ! हा सीते !' की पुकार करके उसने अपने स्वामी का कार्य पूर्ण कर दिया ; क्योंकि उस आर्त स्वरने देवि सीता को भ्रममें डाल दिया । उन्होंने अत्यन्त आग्रह करके लक्ष्मण जी को अपने अग्रजके समीप भेज दिया ।'

'दशग्रीव को अवसर प्राप्त हो गया। वह साधुके वेशमें आश्रम पर आया। लक्ष्मण जी के द्वारा धनुष्कोटिसे खींची रक्षा-रेखा भी उल्लंघन करने का साहस उसमें नहीं था ; किन्तु उसे साधु समझ कर देवी जानकी उसे भिक्षा देने स्वयं रेखासे बाहर आगयी। रावणने उन्हें बलपूर्वक उठाकर समीप छिपे आकाशगामी रथमें बैठा लिया और वहाँसे भागा।'

'रावणने हरण किया जानकी का ?' माँ मूर्छित हो गयीं यह सुनते ही। मेरी जननीके नेत्र अङ्गार हुये ; किन्तु वे माँ को सम्हालनेमें लग गयीं।

'वधू जानकी ' लगा माता कैकेयी उन्मादिनी हो जायेंगीं। उनके नेत्र फटसे गये—'कैकेयी ! सुन, क्या किया तूने ?'

'दशग्रीवने भगवती का हरण किया।' मेरा शरीर क्रोधसे काँपने लगा था और महासेनापति अपने आप में नहीं रहे थे।

'कुमार !' छोटी भाभीके ओजपूर्ण सम्बोधनने मुझे ही नहीं, सबको सावधान कर दिया। उनके नेत्रोंसे जैसे ज्वाला झर रही थी ; किन्तु उनका स्वर अद्भुत था—'सम्वाद पूर्ण हो लेने दो।'

'माता जानकीकी आर्त पुकार पक्षिराज जटायुने सुन ली' कपि श्रेष्ठ शान्त स्वरमें कह रहे थे—'उन्होंने दशग्रीवको बाधा देनेका प्रयत्न किया ; किन्तु वे वृद्ध—निष्ठुर रावण उनके पद एवं चोंचके आघातसे क्षत-विक्षत होकर क्रुद्ध हो उठा। उसने कराल करवालसे उनके पक्ष काट दिये। उन पक्षि प्रवरके भूपतित होजाने पर उसे बाधा देने वाला कोई नहीं रहा। देवी श्रीजनक नन्दिनीको वह लङ्का ले गया और उन्हें वहाँ उसने राज-सदनके पार्श्वमें अशोकोपवनमें रखा। निशाचरियाँ उनकी रक्षामें नियुक्त होगयीं।'

'प्रभु माया मृगका बध करके लौटे। अनुज उन्हें मार्गमें मिले। पर्णकुटी रिक्त पाकर उन्हें जो वेदना हुई— उस व्याकुलताका वर्णन शक्य नहीं। अन्वेषणके अतिरिक्त उपायक्या था। आहत पक्षिराजसे सम्वाद मिला। उन धन्य पक्षि श्रेष्ठने श्रीरामके अङ्कमें देह त्याग किया और दयाके धाम मेरे नाथने अपने श्रीकरोंसे पिताके समान श्रद्धा-सम्मानसे गीधराजकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।'

महर्षि मतङ्गके आश्रमको श्रीचरणोंसे धन्य करते, परम तपस्विनी मतङ्ग शिष्या शिवरीकी प्रतीक्षाको पूर्ण करके सानुज श्रीराघवेन्द्र पम्पा

सरोवर पहुँचे और प्रायः वहीं ऋष्य-मूकके शिखिर पर बैठे हम लोगोंको उनके प्रथम दर्शन हुए।'

'मैं कपिराज सुग्रीवका सेवक हूँ। उनके बड़े भाई बालिने उनका सर्वस्व छीन लिया था और उस स्वभाव निष्ठुरके भयसे सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर रहते थे, जहाँ महर्षि मतङ्गके शापके कारण वालि आ नहीं सकता था। स्वभावतः हम लोगोंको सशङ्क रहना पड़ता था। सानुज श्रीराघवेन्द्रको देखकर सुग्रीवने उनका परिचय प्राप्त करने मुझे भेजा। उन अशरण शरण, परमोदारके श्रीचरणोंका वन्दन करके मैं धन्य हुआ। मेरी प्रार्थना प्रभुने स्वीकार की। वे गिरिशिखर पर पधारे और अग्निको साक्षी बनाकर सुग्रीवके साथ उन्होंने मैत्री की।'

'अजेय बालि जिसने दुन्दुभि असुरको क्रीड़ामें मार दिया था, मयपुत्र मायावी जिसकी भुजाओंसे पीसा जा चुका था, त्रिभुवनजयी दशग्रीव जिसके कक्षमें पूरे छः महीने दबा रहा और फिर बँधा रहा जिसके कुमारके पलनेसे। महर्षि पुलस्त्य मध्यमें न आते, रावण पता नहीं कब तक बालिके बन्धनमें रहता; किन्तु महर्षिके मध्यमें आनेसे बालिने मित्र मान लिया दशानन को। वह दुर्दान्त बालि श्रीरघुनाथके एक ही वाणसे पवित्र होकर परमपद प्राप्त हो गया।'

'अशरण सुग्रीव श्री राघवेन्द्रके अभय हस्त की छायामें किष्किन्धाके अधीश्वर हुए। प्रभुने बालि कुमार अङ्गद को उनका युवराज बनाया। चातुर्मास्य ऋष्यमूकके प्रवर्षण गिरि पर श्री राघवेन्द्रने व्यतीत किया।'

कपिराज सुग्रीवके आदेशसे भूमण्डलके समस्त वानर एवं रीछ नायक अपने दलके साथ एकत्र हुये। सबको सुग्रीवने माता जानकी का पता लगाने में नियुक्त किया। दशानन जब उन्हें गगन-पथसे ले जा रहा था, तब गिरि-शिखर पर हम लोगों को बैठे देखकर माताने ऊपरसे अपना एक वस्त्र तथा आभरण गिरा दिया था। उन्हें राक्षसेश्वर ही ले गया है, यह निश्चय हो जाने पर भी कहाँ पता था कि उस मायावीने उनको कहाँ रखा है।'

'दक्षिण दिशामें युवराज अङ्गद, रीछ पति जाम्बवान प्रभृत्तिके साथ इस जन को भी भेजा था कपिराजने। गीधराज जटायुके भाई सम्पाती हमें सौभाग्यवश मिले और उनसे माता का सम्वाद मिला। हमारे दलके वयो-वृद्ध अग्रणी जाम्बवन्त जी ने मुझे अनुमति दी और श्री रघुनाथके अनुग्रहसे यह जन सौ योजन सागर उलंघन करके लङ्का जानेमें समर्थ हुआ।'

राक्षस राज की राजधानी सुवर्णपुरी लङ्का प्रभुके असीम प्रतापसे मेरे लिये अगम्य नहीं रही ; किन्तु दशग्रीवके छोटे भाई भक्त श्रेष्ठ विभीषण कृपा न करते—मैं माता का दर्शन कदाचित् ही कर पाता। अपनी ओरसे तो अन्वेषण करके मैं असमर्थ हो चुका था ; किन्तु विभीषणने कृपा करके सूचना दी। राक्षसियोंसे घिरी—भूखी व्याघ्रिनोंके मध्य दीना गौ के समान उन विश्ववन्द्याको मैं देख सका।'

अवसर मिल गया उस रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें। मैंने माता की वन्दना की। प्रभुने जो मुद्रिका प्रदान की थी वह अर्पित की उन्हें तथा प्रभु का सन्देश सुनाकर आशीर्वाद भाजन बना। इस क्षुद्रजन का कपि स्वभाव—क्षुधा भी पीड़ित कर रही थी। अल्प फलाहारके प्रयत्नमें कुछ वृक्ष राक्षसोपवनके नष्ट हो गये। छोटा सा संघर्ष हुआ, कुछ रात्रि चर मरे और रावण पुत्र मेघनादने इस जन को बन्दी कर लिया। इस बहाने रावण को देखने का सुयोग प्राप्त हुआ।'

'अपने ऐश्वर्यके मदमें अन्ध दशग्रीव—वह कहाँ किसी का हितवचन सुन सकता है। उसने मेरी पूँछ ही भस्म करा देने का प्रयत्न किया। अपनी पूँछमें अग्नि प्रज्वलित देख मैं बन्धनसे छूट निकला। श्रीरघुनाथके सेवक को भस्म करने का साहस अग्निमें हो नहीं सकता था। मुझे तो एक क्रीड़ा प्राप्त हुई। लङ्का भस्म हो गयी और पूँछ तो सहज समुद्र जलमें शीतल हो ही जाती। माताने मुझे सन्देश दिया—अपनी चूड़ामणि दी और मैं पुन: समुद्र कूद आया।'

'प्रभु को माता जानकी का सम्वाद मिला। वानरेश्वर सुग्रीव सम्पूर्ण वानर-रीछों की महा सेनाके साथ नित्य सेवक हैं प्रभुके। लङ्का का अभियान—समुद्र ही एक मात्र बाधा थी। प्रभुने तीन दिन सागर-तट पर प्रायोपवेशन करके प्रार्थना की और जब जड़ जलधिने उस पर ध्यान नहीं दिया, श्री रामके धनुष पर उनका अमोघ वाण चढ़ा। शुष्क हो गया होता सागर यदि वह विप्र वेशमें शरणागत न हो जाता। उसीने सम्मति दी। वानर शिल्पी नल-नीलने सेतु-निर्माण किया समुद्र पर। श्री राम का प्रताप त्रिभुवन आज प्रत्यक्ष देख रहा है। अम्भोधिके शतयोजन विस्तीर्ण वक्ष पर माल्यके समान सेतु स्थिर है—पाषाण जल पर तैर रहे हैं।'

'सेतु निर्माणसे पूर्व ही रावणानुज विभीषण जी लङ्का-त्याग कर प्रभु की शरण आ गये। श्री राघवेन्द्रने उन्हें तत्काल सागर जलसे अभिषिक्त

करके 'लंकेश' कहा और विभीषण तो उसी दिनसे लङ्काधिप हो गये। श्री रामके संकल्प को अन्यथा करने की शक्ति स्रष्टामें भी नहीं है।'

'सम्पूर्ण सैन्य सेतुके द्वारा समुद्र पार हुई। युवराज अङ्गद को प्रभुने एक बार पुनः भेजा दशग्रीवके समीप कि वह दुर्मति त्याग करके श्री वैदेही को लौटा दे; किन्तु उसके मस्तक पर तो मृत्यु नृत्य कर रही है। युद्ध प्रारम्भ हो गया और वह चल रहा है। राक्षसी सैन्य का अत्यल्प भाग अवशेष रहा है। दशग्रीवके प्रायः समस्त सेना नायक यमलोक जा चुके हैं और उसका अनुज महाकाय कुम्भकर्ण श्री रघुनाथके शरोंसे छिन्न सदा को रणभूमिमें सो चुका है।'

'रावण कुमार इन्द्रजयी मेघनाद अपने पितासे भी प्रबल है। कलके संग्राममें राक्षस युवराजके प्राण सङ्कटमें ही पड़ गये थे कि उसने अपनी अमोघ ब्राह्म शक्ति कुमार लक्ष्मण पर प्रयोग की। कुमार मूर्छित पड़े हैं। विभीषण की सम्मतिसे मैं राक्षस भिषक् सुषेण को ले आया। सुषेणने जो औषधि बताई, वह हिमगिरिके द्रोणाचल पर ही प्राप्य है। मैं औषधि पहिचानता नहीं, शत्रुका वैद्य पीछे पता नहीं क्या बहाने बनाये, अतः पूरा गिरि-शिखर ही लिये जा रहा हूँ।'

'वैद्यने कहा है—प्रभातसे पूर्व कुमार को चेतना न लायी जा सके तो पुनः कोई आशा नहीं रहेगी।' पवन कुमारने अपनी बात समाप्त करते कहा—अतः आप सब अब मुझे आज्ञा दें!

पवन कुमार का सम्वाद पूरा होते न होते महा सेनाध्यक्ष का शङ्ख उनके अधरोंसे जा लगा था और युद्धाभियान का संकेत सैनिकों को करता वह दिशाओं को गुञ्जित करने लगा था।

'कुमार! लङ्का अयोध्या का पार्श्ववर्ती नगर नहीं है। अश्व एवं रथ भी वहाँ कई दिनोंमें पहुँचेंगे।' शंखनाद की समाप्तिके साथ जननीने मेरी ओर देखा—'ये कपि श्रेष्ठ इतना विशाल पर्वतले जा सकते हैं तो तुम्हें भी अवश्यले जा सकेंगे!'

मैंने बद्धाञ्जलि मस्तक झु ाया। इससे महान सौभाग्य मेरे लिए और क्या हो सकता था। क्षत्रिय का धनुष एवं त्रोण उसके नित्य संगी हैं तथा कोई अन्य प्रस्तुति सदा अनावश्यक रही है उसके लिये।

'वत्स हनुमान!' स्नेहमयी माँ—अवध की राज माता सहसा बोलीं—'रामसे जाकर मेरा यह सन्देश कह देना कि कौशल्याने कहा है, वह लक्ष्मण के साथ आ सके तभी अयोध्या आवें। लक्ष्मण रहित राम का कोई काम

यहाँ नहीं है। कमसे कम माँ उनको लक्ष्मणसे रहित देखना नहीं चाहेंगी। लक्ष्मण न आ सके तो राम भी वनमें ही कहीं जीवन व्यतीत करे।'

हम सब चौंक गये। मां का मुख अत्यन्त गम्भीर हो रहा था। उनको इस तेजस्विनी रूपमें मैंने प्रथम बार देखा।

"नहीं हनुमान ! राम मेरे पुत्र हैं, उनसे यह सन्देश कहनेकी आवश्यकता नहीं।' जननीने आदेशके स्वरमें कहा--'कहना-सुमित्राने कहा है—सेवक युद्धमें स्वामीके लिये खेत रहे, यह उसका अहोभाग्य। लक्ष्मणका जीवन सफल हो गया। युद्धमें दशग्रीवका दलन करके सीताको साथ लेकर राम अवधि पूर्ण होते ही अवश्य अवध आवें।"

'शत्रुघ्न ! तुम्हारे अग्रजने अपना जन्म धन्य किया। मेरे दूधकी लज्जा रख ली लक्ष्मणने।' जननीने मेरी ओर देखा—'अपने नामको तुम सार्थक करो। स्वामीके लिये शरीरके अर्पणका पुण्य-पर्व फिर नहीं मिलना है तुम्हें। सुमित्रा पुत्रवती होगयी यदि तुम भी श्रीराम के कार्य में आगये।'

'कुमार !' छोटी भाभीका शील—वे दूसरे किसीको सम्बोधित नहीं कर सकती थीं; किन्तु उनका स्वर—जैसे त्रिभुवनकी अधीश्वरी बोल रही हों। मैंने दृष्टि उठायी। जगद्धात्रीका दुर्धर्ष तेज था वहाँ और उनका स्वर—इधर देखो कुमार ! मेरे भालका सिन्दूर विन्दु अम्लान-अम्लान हैं, मेरे माल्यके कुसुम एवं अभग्न हैं मेरे करकी समस्त चूड़ियाँ। उर्मिला जीवित है तुम्हारे सम्मुख--आर्य पुत्रको कुछ नहीं हुआ, वे सकुशल हैं, इसके लिये क्या इससे अधिक प्रमाण आवश्यक है ?'

महासतीकी अलौकिक श्रद्धा, उनका अविचल विश्वास—इससे अधिक विश्वस्त प्रमाण विश्वमें और हो भी क्या सकता है ? मैंने मस्तक झुकाया उनके पावन पदों में।

'लंका अब किसके प्रतिपक्षमें जाओगे कुमार ?' उनकी वह तेजस्विनी वाणी—'दशग्रीव जिनका अपराधी है, उनके त्रोणमें पर्याप्त अमोघ शर हैं और इन्द्रजित आर्य पुत्रका अपराध करके उनका वध्य हो चुका। तुम्हारे लिये वहाँ और कोई अवशिष्ट है ?'

'श्रीरघुनाथ सर्व समर्थ हैं।' छोटी भाभीकी ओर दृष्टि किये बिना अवधके महातापस आर्य श्रीभरतजीने उनकी बातको श्रद्धापूर्ण समर्थन दिया—'उनके वनवासकी अवधि समाप्तिके समीप है और उन सत्य-सङ्कल्प को कोई विरमित नहीं कर सकता।'

'कुमार ! तुम्हारे महान अग्रजका निर्णय उचित है !' अवधके परमाराध्य कुलगुरुने आदेश दिया—'किसीको लङ्का नहीं जाना है। श्रीराम सानुज जनक-नन्दिनीके साथ सकुशल लौटेंगे। पवन-पुत्रको अब तुम लोग अनुमति दो।'

बात समाप्त होगयी। कुलगुरुका आदेश सर्वोपरि है। हम सबने मस्तक झुका लिया।

'तात ! आप श्रान्त होंगे। विलम्ब होगा लङ्का पहुँचनेमें।' आर्यने अब कपिवरकी ओर देखा—'आप इस गिरि शिखरके साथ मेरे वाण पर बिराजें। मैं आपको लङ्का भेज देता हूँ।'

'आपके चरणोंके प्रतापसे मैं वाणकी गतिसे ही जाऊँगा।' पवन कुमार ने दो क्षण कुछ सोचकर उत्तर दिया—'मुझे कोई श्रान्ति नहीं होनी है।'

उन्होंने कुलगुरु की, माताओं की, भाभी की, आर्य की तथा इस जन की भी पद वन्दनाकी और बिना किसी विशेष आयासके गगनमें उठ गये। अब तक जो गिरि शिखर-व्योममें अनाधार स्थित था, उसे उन्होंने अपने दक्षिण कर पर सम्हाल लिया और सचमुच वे वाणकी तीव्रतम गतिसे दक्षिण दिशामें अदृश्य होगये।

कपि श्रेष्ठके प्रस्थानके अनन्तर कुलगुरुने हम सबको पुनः आश्वासन दिया और वे अपने आश्रम पधारे। आर्य भरतजीने भी माताओंकी अनुमति प्राप्तकी और नन्दिग्राम प्रस्थान किया। मैं उनके साथ गया पर्णकुटी तक। महामात्यको हमने विदा कर देना चाहा, किन्तु वे भी साथ ही गये।

'आप अपने शूरोंको विश्राम करनेका आदेश दें।' आर्यने महा सेनापतिकी ओर सप्रेम देखा।

महासेनाध्यक्षका शङ्ख एक बार फिर उनके अधरोंसे लगा ; किन्तु इस बार उनमें वह ओज, वह उत्साह नहीं था। शङ्ख ध्वनिमें भी वह गगन-गुञ्जन नहीं था। वह सैनिकोंको शस्त्र त्याग कर आवासोंमें लौट जाने का शिथिल संकेत मात्र कर रही थी।

'अब हमें अपने सम्राट्के अश्वमेध यज्ञकी प्रतीक्षा करनी होगी।' महासेनाध्यक्षने अधरोंसे शङ्ख हटाते हुए जैसे अपने आपसे कहा।

वह रात्रि हमारी जागरण रात्रि बनी रही। श्रीरघुनाथका जो सम्वाद प्राप्त हुआ था—अपने उन आराध्यकी चर्चा ही तो हमारा जीवन थी इन दिनों।

२६—आये सर्वाधार

श्रीरघुनाथके वनवासकी अवधि व्यतीत प्राय होचुकी थी। गिने हुये दिन और लङ्काका संग्राम चल रहा था। अयोध्याके सङ्कटकी सीमा नहीं थी सुभद्र ! आर्य भरतजीने सङ्कल्प कर रखा था—'अवधि व्यतीत होनेके पश्चात्के प्रथम दिन सायंकाल तक यदि श्रीरघुनाथके दर्शन न हुये, भरत दूसरा सूर्योदय नहीं देखेगा।'

उनका विश्वास सुमेरुकी अपेक्षा अधिक स्थिर था—'उन सत्य-सङ्कल्पको कोई बाधा रोक नहीं सकती, यदि वे अवध आना चाहें।'

लङ्का कितनी दूर है अयोध्यासे, त्रिभुवन जयी दशग्रीव अभी वहाँ जीवित है और जीवित है उसका अप्रतिम शूर पुत्र इन्द्रजित; किन्तु आर्य की श्रद्धा अविचल थी—'प्रभु अवश्य आ सकते हैं।' और संशय रहित विश्वास भी यदि असफल हो जाय, सृष्टि कितने क्षण रह सकेगी।

हम सबने अपना एक समाधान निकाल लिया था—लङ्काका संग्राम समाप्त न हो, तो भी पवन कुमार अवधि व्यतीत होते ही प्रभुको गगनपथसे अयोध्या ले आ सकते हैं। वे अयोध्यानाथ एक बार आ जायँ—लङ्काके तुच्छ रात्रिचरको हम समझ लेंगे।

ओह कितनी दारुण कल्पना थी—प्रभु यदि समय पर न पधारे ! आर्य भरतके बिना अयोध्यामें किस देहमें जीवन सुरक्षित रह सकता था ?

श्रृङ्गवेरपुरके चर शर भङ्गाश्रमसे आगे दण्डकारण्य तकका समाचार लेनेके लिये दौड़ रहे थे। कहीं कोई सम्वाद—कोई पता नहीं था प्रभुके पधारनेका और अवधिके दिन समाप्त होते जा रहे थे। वे समाप्त होते गये और अन्तिम दिन आ गया—केवल एक दिन अवधि शेष रह गयी।

'प्रभुके पधारनेका तो कहींसे कोई सम्वाद नहीं आया ! वे तो अभी दण्डकारण्य भी नहीं पहुँचे !' एक ही आशा रह गयी—'वे गगन पथसे आ सकते हैं।'

* * *

हमारी विपत्तिका विहान भी होना था, दारुण दिनोंका पर्यवसान पहुँच गया, वह धन्य क्षण भी आया ! चर नहीं, नन्दिग्रामसे स्वयं आर्य अकस्मात् अयोध्या आये।

उनका हर्षोत्फुल्ल श्री मुख, उनका पुलकित गात, आनन्दाश्रु पूरित उनके लोचन—मध्याह्नोत्तर वे पहुँचे थे राजसदन और सीधे माँ के भवन आये थे। उनको देखते ही मैं बोल पड़ा था—'माँ ! श्रीरघुनाथ आ रहे हैं।' आर्यके प्रसन्न श्री मुखने शब्दोंसे प्रथम ही सम्वाद श्रवण करा दिया।

'हाँ माँ ! श्री राघवेन्द्र प्रयाग पहुँच गये हैं !' आर्यने गद्‌स्वरमें कहा—सानुज भगवती धरा नन्दिनीके साथ वे अयोध्यानाथ पधार रहे हैं।'

माँ हर्षके मारे दो क्षण मूर्तिके समान स्थिर रह गयीं और तब उन्होंने आर्यको अङ्कमें खींच लिया। उनकी वाणी बोलनेमें समर्थ नहीं थी ; किन्तु उनके दृगोंसे अविरल आनन्द धारा झर रही थी। आर्यकी अलकें आर्द्र होगयीं।

'दशग्रीव देवद्रोही, द्विजशत्रु, गो एवं धर्मका प्रकाण्ड विरोधी रावण श्रीरामके शरोंसे पवित्र होकर रणभूमिमें सो गया।' आर्यने माँ के अङ्कमें ही बैठे-बैठे सुनाया—'शरणागत रावणानुज विभीषण अब लङ्काधिप राक्षसेश हैं। पवन कुमारको प्रभुने भेजा था। वे सर्वेश पुष्पक-विमानसे कल प्रातः प्रथम प्रहरमें अयोध्या पहुँच रहे हैं। शृङ्गवेरपुरमें वे प्रातः कृत्य सम्पन्न करेंगे।'

माँ अब भी बोलनेमें असमर्थ थीं। उन्होंने दधि मधु मिश्रित किया दक्षिण करसे और आर्यके चतुर्दश वर्ष व्यापी 'गोमूत्रयावक व्रत' का माँ के करके उस दधि-ग्राससे समापन होगया।

आर्यने माँ से अनुमति ली और कुलगुरु महर्षि वशिष्ठजीको सम्वाद देने वे स्वयं पधारे। अयोध्याको सूचित करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। राजसदन तो कुछ क्षणमें माँ के प्राङ्गणमें एकत्र हो चुका था। नगरके जनोंको सूचित करने स्वयं राजसदनके सेवक दौड़ गये।

मैं सीधा दौड़ा गया माता कैकेयीके सदनमें। उन्होंने सम्वाद सुना और मुझे अङ्कमें खींच लिया। कुछ क्षण पश्चात् जब वे बोलनेमें समर्थ हो सकीं, उनकी गद्‌गद् वाणीने केवल इतना कहा—'धन्य किया तुमने वत्स ! कैकेयीका आशीर्वाद.......।'

मैं ही गया मध्यम भाभीके सदनमें और छोटी भाभीके समीप भी। मध्यम भाभीने सम्वाद सुनकर आशीर्वाद दिया। कहा कुमार—'कुछ नहीं देखती जो तुम्हें दे सकूँ।'

छोटी भाभी सहसा उठीं और उनका शरीर स्थिर हो गया। उनके शरीर का कम्प, स्वेद, प्रवाह, वैवर्ण्य—मुझे भय लगा ……किन्तु कुछ क्षणोंमें स्थिर हो गयीं। वाणी समर्थ नहीं थी। उनका कर उठा और मैंने जब उनके पावन पदोंमें मस्तक झुकाया—उनका कर मेरे मस्तक पर आशीर्वाद देता घूम गया। सहसा वे उठीं और मुझे संकुचित करते अभिवादन कर लिया उन्होंने।

* * *

नगरके उल्लास की चर्चा सम्भव नहीं। सम्पूर्ण अयोध्या जैसे दूसरी हो गयी। सबके शरीरमें जैसे आज जीवन आया था। हम सब सम्पूर्ण रात्रि व्यस्त रहे। कुछ क्षणोंके समान वह रजनी व्यतीत हो गयी।

प्रातःकाल पुरी की शोभा—गवाक्षोंसे राशि राशि अगुरु धूम उठ रहा था। मङ्गल तोरण, प्रदीप-पंक्तियाँ, उत्तुङ्ग, ध्वजायें, प्रत्येक चतुष्पथ विशाल द्वारोंसे अलंकृत, मौक्तिक मालायें, द्विव्याभरण—पूरे चतुर्दश वर्ष की श्रृङ्गार हीनता आज एक ही दिन जैसे सम्पूर्ण कर देनी थी। अश्व, गज, वृषभ गौयें, गोवत्स –पंक्षियों तक का सम्पूर्ण श्रृङ्गार हुआ था।

हम जब जनकपुरसे विवाहके कर लौटे थे—अयोध्या सज्जित हुई थी; किन्तु आज की सज्जा—आजके उत्साह एवं श्रृङ्गार की समता शक्य नहीं। सुर भी उस शोभाकी स्पर्धा नहीं कर सकते थे।

सदनोमें राशि राशि सुमन, लाजा, अंकुर, दूर्वादि संग्रहीत हुये। अयोध्याके अधीश्वर—सर्वाधार, सबके परम प्रेमास्पद पधारेंगे! उनके स्वागतके लिये क्या किया जाय, यही नहीं सूझ पड़ता था।

प्रातःकाल नित्य कर्म शीघ्रतामें सम्पन्न हुये। नगर जन मङ्गल द्रव्य लिए नगरसे बाहर एकत्र हुए। कुलगुरु विप्रवृन्दके साथ पधारे और सबसे आगे आर्य स्थित हुए मस्तक पर आराध्य पादुका द्वय रखे।

वह धन्य क्षण! हमने दूर गगनमें पुष्पकके दर्शन किये। वह कामग यान—क्षणार्धमें तो वह सम्मुख प्रशस्त धरा पर उतर चुका था और उतरते देखा उससे हमने अपने आराध्यको।

श्री रघुनाथने सीधे आकर कुलगुरुके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणिपात किया।'

शत्रुघ्न जी की वाणी गद्‍गद्‍ हो गयी। नेत्रोंसे प्रवाह झरने लगा। शरीर रोमाञ्चित हो गया। कई क्षण वे बोल नहीं सके। अन्तमें उन्होंने उत्तरीयसे नेत्र मार्जित किये।

वह मिलन, वह प्रेम पारावार—उसे कह सकनेमें वाणी समर्थ नहीं है सुभद्र ! मुझे सौभाग्य प्राप्य हुआ श्री रघुनाथ एवं अग्रजके पदोंमें प्रणत होने का और उन्होंने अङ्कमाल देकर हृदय शीतल कर दिया। भगवती धरानन्दिनी—अपनी बड़ी भाभीके चारु चरणोंमें प्रणाम करके इस जनने आशीर्वाद पाया।

राजपथ सुमनोंके स्तरोंसे आच्छादित हो गये। लाजा,दधि, दूर्वाकुर-पथों पर उनका अपार अम्बार एकत्र हो गया। वह धन्य दिवस ! वह मङ्गल मुहूर्त ·· !

———

२७—राज्याभिषेक

श्रीरघुनाथ आये और अयोध्यामें प्राण आगया। त्रिभुवन चूड़ामणि अयोध्या—उसकी श्री, उसका वैभव, उसका उल्लास—तुमने हमारी उस दिव्यपुरीको देखा है सुभद्र ! हमारे दीर्घव्रतका उद्यापन होगया।

अपने श्रीकरोंसे राघवेन्द्रने आर्य भरतजीकी जटायें सुलझायीं। चतुर्दश वर्षके अनन्तर आज रघुवंश कुमारोंने अलंकार धारण किया।

श्रीरघुनाथके साथ उनके अरण्यपार्षद आये थे विमानमें। श्रीपवन कुमारसे हमारा पूर्व परिचय होचुका था। कपिराज सुग्रीव, युवराज अङ्गद, लङ्काधिप विभीषण, रीछराज जाम्बवन्त, महाशिल्पी नल-नील—पर्याप्त अधिक संख्या थी इन पार्षद प्रवरोंकी और वे हममें ऐसे घुलमिल गये, जैसे सदासे अयोध्यावासी ही हों वे ! उनका शील, उनका संयम, उनकी सेवा परायणता—वे वानर-रीछ—नर भी उनसे शीलकी शिक्षा लें इतना संयम था उनमें।

राज्याभिषेककी प्रस्तुति—उस महा समारोहकी व्यस्तता ; किन्तु अवधके सेवकों तकको सेवाका अवसर कठिनतासे ही प्राप्त हुआ। श्रीरघुनाथ ने कपि-रीछ वर्गका परिचय दिया था—'ये मेरे सखा हैं ! मेरी विपत्तिके निःस्वार्थ सहायक।' और उनमेंसे प्रत्येक कहता—'हम आपके क्षुद्र सेवक···· ······हमें सेवाका अवसर जीवनमें फिर कहाँ मिलना है।'

उन्हें कार्य बतलाने नहीं पड़े। उन्होंने तो स्वयं सेवाके लिये समस्त कार्य सम्हाल लिये और इतनी दक्षता—इतनी पूर्णतासे कि हम लोगोंके लिये अवसर ही नहीं दीखता था। उनकी कुशलता—अरण्यानी प्राणियोंका कौशल इतना महान। हम उनकी स्फूर्तिकी समताकी आशा अपने नागरिकोंसे नहीं कर सकते थे; किन्तु उनका नैपुण्य······।

वे हमारे अतिथि थे—हमें उनका आतिथ्य करना था; किन्तु उनकी आत्मीयता, उनका अपार अनुराग—अतिथि—आतिथेयके भेदको उसमें प्रवेश कहाँ प्राप्त होसकता था।

* * *

वह मङ्गल मुहूर्त भी आया। सूर्यवंशके सुप्रसिद्ध सिंहासन पर अमृतस्यन्दी महाछत्रके नीचे श्रीराघवेन्द्र आसीन हुये। उनके वामपार्श्वमें रत्नालङ्कृता, त्रिभुवन वन्दनीया भगवती धरानन्दिनीको विराजमान देखकर हमारे नेत्र धन्य होगये।

महर्षि वशिष्ठ—भगवान ब्रह्माके प्रिय आत्मज, ब्रह्मर्षिगणोंके शिरोमणि, रघुकुल गुरु उठे! वे रजत केश, वलीपलितकाय, तेजोमय तपोधन--उनके अभय करोंका अभिषेक, उनके द्वारा राज्य तिलक सम्पन्न हुये बिना अयोध्याके सिंहासनका अधिकार कहाँ प्राप्त होता है।

उन विश्ववन्द्यने तिलक किया और राज्याभिषेकसाङ्ग सम्पूण हो गया। ब्रह्मर्षि, राजर्षि, मुनिगण प्रभृति उनके आशीर्वादके नित्य अनुमोदक रहे हैं। उनका स्वस्ति पाठ सार्थक हुआ उस दिन।

आदि मन्वन्तरसे अवधके नूतन नरेशके राज्याभिषेकके समय लोकपाल अपने उपहार देते आये हैं। सुरेन्द्रका किरीट पादपीठका स्पर्श न करे, स्वयं उन्हें अपने सम्मान एवं सुरक्षाकी चिन्ता होनी चाहिये और आज तो उन्हें अवसर मिला पद-वन्दनका, यह उनका सौभाग्य; क्योंकि स्वयं भगवान शशाङ्क शेखर एवं हंसवाहन स्रष्टा जहाँ स्तवनार्थ उपस्थित हों, सुरेन्द्रकी गणना कहाँ रह गयी।

* * *

आर्य भरत युवराज घोषित हुये। सिंहासनका दक्षिण पाश्व उनके द्वारा सुशोभित होता; किन्तु कहाँ—वे छत्र धारण कर स्वयं पृष्ठ भागमें स्थित होगये। हम सहोदरोंको उभय पार्श्व प्राप्त हुआ चामर ग्रहणके सम्मानके साथ। हमारी संख्या इसी दिन बढ़ गयी। पवन कुमार प्रभुके

पादपीठके समीप विराजमान होगये और वह उनका नित्य स्थान बन गया।

अवध नरेशका अभिषेक—नरपति एवं सुरपति तो अपने उपहार निवेदित करते ही। यक्ष, नाग, गन्धर्व, किन्नरादि देव, उपदेव वर्ग सुरेन्द्रका अनुगत ठहरा। यक्षराज कुवेर, यादोगणाधिप वरुण, संयमिनीके स्वामी यम—लोकपालोंको अपने उपहार अर्पित करने ही थे। उपस्थित तो हुये नागराज वासुकि और सबको चौंका दिया अपनी उपस्थितिसे दानवेन्द्र मय ने। विभीषण पर दानवेन्द्रका सहज स्नेह उन्हें यहाँ ले आया था।

आपकी ही मर्यादासे बद्ध पितृचरण सुतलसे यहाँ आनेमें असमर्थ हैं!' सहस्रबाहु बालिपुत्र दैत्येश्वर वाणासुर अपने पिताका प्रतिनिधित्व करने उपस्थित हुये थे—'त्रिभुवननाथके सभी प्रजाजन हैं। हम भी उनके अनुग्रहके आकांक्षी हैं।' बलिकी प्रार्थना—उन महामनस्वी, परमधार्मिकके अनुरूप ही उनका शील और उनके उपहार—उन दिव्योपहारोंका वर्णन कैसे किया जाय।

* * *

समस्त आगत सम्यक् रीतिसे सत्कृत हुये। अयोध्यानाथके उपहारों ने उन्हें आप्यायित कर दिया। राज्याभिषेकके दिन ही श्रीरघुनाथ त्रिभुवन सम्राट् होगये। अश्वमेध एवं राजसूय आदिकी दिग्विजय यात्रा तो पीछे विधि-निर्वाह मात्र ही थी।

कपि नायक, रीछपति, लङ्काधिप प्रभृति तो हमारे स्वजन थे। अवधके कोषागारमें ऐसा क्या था जो उनका नहीं था। उन्होंने श्रीरघुनाथ के करोंका उपहार प्रसाद मानकर स्वीकार किया। जिन रत्नोंकी विश्वमें चर्चा मात्र श्रवण गोचर होती है, जो पदार्थ सुरोंको भी दुर्लभ हैं—अवध नरेशने उन्हें सामान्य अतिथियों तकको उन्मुक्त हस्त प्रदान किया।

श्रीराघवेन्द्र परात्पर परम पुरुष हैं! वे ही घोषणा कर सकते थे—'प्रणिमात्रको उसका अभिवांछित प्राप्त होगा!' किन्तु सुभद्र! उनके श्रीचरणोंके सम्मुख जो धन्य पुरुष पहुँच पाते हैं, कामनाका कलुष उनके अन्तरको स्पर्श कहाँ कर पाता है।

—×—

२८—राजाराम

जीवनका अन्त मृत्यु, संयोगका अन्त वियोग, सुखका अन्त दुःख। प्रत्येक समारोहका पर्यवसान जिस विषण्णतामें होता है—श्रान्ति, शैथिल्य, अवसादग्रस्त निस्तब्धता ! महायज्ञों के अनन्तर भग्न मण्डप, छिन्न वेदियाँ, इतस्ततः अस्तव्यस्त म्लान कुश, शुष्क पुष्प, भग्न पात्र जो खेद पूर्ण वातावरण उत्पन्न करते हैं—एक ही पर्यवसान है सबका सुभद्र !

राज्याभिषेकका वह समारोह और उसके पश्चात् ही सुहृदयोंके विदा होनेका अवसर आया। मिथिला, कैकय, दक्षिण कोशलके आत्मीय-जनोंको तो विदा होना ही था; किन्तु श्री राघवेन्द्रके साथ उनके जो अरण्यानी परिकर आये थे—हममें वे इतने घुलमिल गये थे; इतने आत्मीय होगये थे वे कि उन्हें अयोध्या से जाना भी है, यह हम सोच नहीं सकते थे। उनके चित्तको तो गृहके स्मरण ने कभी स्पर्श किया ही नहीं।

उन्हें जाना तो था। उनके भी स्वजन हैं। वे स्वजन भी उनकी प्रतीक्षा करते होंगे। उनके भी कर्तव्य हैं अपने आश्रितोंके प्रति। कर्तव्य—व्यक्तिकी अपनी इच्छा कितनी आबद्ध है ! कितनी मूल्य हीन है !' अत्यन्त गम्भीर एवं विषण्ण हो गये कुमार।

मर्यादा पुरुषोत्तम ने सम्मान पूर्वक, बहुमूल्य उपहारों से सत्कृत करके उनको विदा किया। लङ्काधिप विभीषण, वानरेश सुग्रीव, रीछराज जाम्बवान, शिल्पी श्रेष्ठ नल-नील—सभी विदा हुये। सब प्रणत होकर, साश्रु नयन, विषण्ण वदन, अत्यन्त कातर, विवश गये; किन्तु युवराज अङ्गदकी विदाई—पाषाण भी विदीर्ण हो उठे उस वेदना से। कितना आर्तभाव, कितना अनुरोध—'पिता ने मुझे इन श्री चरणों में अर्पित कर दिया है। कौन है मेरा किष्किन्धा में ? मुझे इन पादपद्मों से प्रभु पृथक न करें ! कोई सेवा—कोई क्षुद्रतम सेवा इस जनको यहीं प्राप्त हो !'

बड़ा निष्ठुर है राज्य धर्म ! किष्किन्धाके युवराजका कर्तव्य उन्हें वहाँ पुकार रहा था। मर्यादा—पुरुषोत्तमको उस कर्तव्यका संरक्षण करना चाहिये। अङ्गदकी व्याकुलता ! उनकी आर्ति; किन्तु उन्हें विदा होना चाहिये। श्री रघुनाथ स्वयं नगर सीमान्त तक पहुँचाने गये।

रहे केवल पवन कुमार। श्री रघुनाथसे पृथक उन केशरीकुमारकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनके सब कर्तव्य, उन आञ्जनेयके प्रत्येक श्वास सम्यक् समर्पित हैं।

वह दृश्य कैसे भुला जा सकता है। सबको उपहार देनेके अनन्तर अवध साम्राज्ञी ने अयोध्याके कोषागारका सर्वश्रेष्ठ रत्नहार कण्ठ से उतार कर प्रभुके करोंमें दे दिया और प्रभुने उसे आञ्जनेयके कण्ठ में डाल दिया।

हनुमान उठे और एक ओर जाकर उस रत्नहारकी एक एक मणियोंको तोड़-तोड़ कर देखने लगे। उन्हें अपने दाँतों से फोड़ने लगे! उनमें वे कुछ अन्वेषण कर रहे थे। देवेन्द्र दुर्लभ मणियोंको नष्ट होते देख विभीषण ने कहा था—'मारुति! इन अलभ्य मणियोंको आप क्यों नष्ट कर रहे हैं!'

'इनमें श्री सीतारामकी छबि कहाँ है, ढूँढ़ रहा हूँ।' सरल भाव से कहा हनुमान ने—'जिसमें प्रभुका श्री विग्रह न हो, वह भी किसी कामकी वस्तु है।'

'तो तुम्हारे शरीर में वह श्री विग्रह है?' व्यंगपूर्वक विभीषण ने पूछा।

'होना तो चाहिये!' हनुमानके हाथोंसे रत्नहार छूट गया। उनके वज्र नख अपने वक्ष पर लगे और चर्म विदीर्ण हो गया। सिंहासनासीन श्री सीतारामकी अपूर्व छवि विराजमान थी मारुतिके हृदय में। हम सब आश्चर्य स्तब्ध हो गये।

उन श्री पवन कुमारको राघवेन्द्र कैसे विदा कर सकते थे। श्री रघुनाथके चरणोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं कोई कर्तव्य मारुति ने अपना रखा भी कहाँ था।

* * *

काल सबको आत्मसात् कर लेता है। वह प्रियजनों—अपने अभिन्नोंके वियोगको भी विस्मृतके गर्भ में डाल देता है। हमारे साथ भी यह होना ही था। धीरे-धीरे चित्त स्वाभाविक स्थिति में आ गया। अवधका जीवन अपने व्यवस्थित क्रम में चलने लगा।

सुरोंका सङ्कट दूर हो चुका था। अमरावती और धरा, सर्वत्र शान्तिकी स्थापना करदी थी श्री राघवेन्द्रने। दुर्गम्य अरण्य तक अनु-

पद्रवित हो चुके। सम्पूर्ण जन-जीवन निर्भय, शान्त, निरुपद्रव एवं नियमित।

कामनाओंका कलुष भी कुछ होता है, स्वार्थके सङ्घर्षकी हीनता पर भी मानव उतर सकता है—यह हम केवल ग्रन्थों में पढ़ते हैं। स्मृतियोंके प्रायश्चित विधान भी आवश्यक होते ही होंगे, अन्यथा उनका निर्माण सर्वज्ञ आप्तजन करते ही क्यों ; किन्तु मानवसे ऐसे कलुष कृत्य भी होते होंगे—कल्पना काँप जाती है।

अभावकी सत्ता उठ गयी श्री राघवेन्द्रके प्रताप से। आधि और व्याधि अपने अधिष्ठाताओंके समीप सुरक्षित हो गयीं। सुरोंको धराकी श्रद्धा सत्कृत करतो है, वे धराकी सेवामें प्रमाद करें--मर्यादा पुरुषोत्तम उन्हें क्षमा कर देंगे ?

मानवके चरणोंकी गति अनवरुद्ध है। वह अमरपुरीकी यात्रा करनेको भी स्वतन्त्र है। अरण्य उसके विनोद स्थल हैं और गिरि उसे पथ प्रदान करके सार्थक बनते हैं।

गगन धराकी आवश्यकता देखकर जल धारा न दे, उसकी अपेक्षा करेगा कोई ? तपोधन ऋषियोंके सत्य संकल्प--किन्तु उनकी तपः शक्तिका अपव्यय क्यों हो ? श्री रघुनाथके राज्योंमें किसीकी आवश्यकता अपूर्ण कहाँ रही है। यह दूसरी बात कि अन्तरने लौकिक आवश्यकताओंका अनुभव ही करना त्याग दिया है।

'संयमिनी निर्जन पड़ी है।' कार्याभाव हो गया है केवल दक्षिणदिकके लोकपालके पास। उनका--एकमात्र उनका अभियोग है--'उनके नरक जनहीन होते जा रहे हैं। उनके सेवकोंको अपनी नगर सीमासे बाहर निकलनेका अवसर ही नहीं मिलता और नगरमें भी निष्क्रियता ने उन्हें नितान्त पीड़ित कर रखा है।'

उस दिन भगवान रुद्र भी अभियोग ले आये थे। उनके गणोंको दीर्घकाल होगये अनाहार करते। उनके ज्वर, उनके व्याधियोंके अधिदेवता—सबके सब प्रेत, पिशाच, वैताल, कुष्माण्ड, योगिनियाँ, मातृकायें—सबके लिये धरा ही अवलम्ब है और प्रभुके प्रचण्ड प्रताप ने उनका यहाँ 'प्रवेश-निषेध' कर दिया है।

देवी ज्येष्ठा एवं भगवती कालकन्याके भी अभियोग हैं। चामुण्डा तथा उनकी सखियोंको भी पृथ्वीकी छायासे वञ्चित होना पड़ा है।

नाग, वृश्चिक, दंश, मशकादि उत्पीड़क प्राणियोंके अधिदेवता ही नहीं, शुक, टिड्डीदल आदिके अधिष्ठाता एवं भगवान गणपतिको भी यह खेद है कि उनके वाहनकी सन्तति धरामें अब अभिवृद्धिका अवसर नहीं पाती। इन सबकी जनसंख्या अत्यन्त सीमित कर दी गयी है—इतनी सीमित, जिसकी स्थिति किसीको उत्पीड़ित न करे और किसमें साहस जो मर्यादा पुरुषोत्तमकी मर्यादाको अतिक्रान्त करनेका संकल्प भी मन में ले आवे।

❀ ❀ ❀

श्री रघुनाथके राज्यके एकादश सहस्रवर्ष—हमें तो एकादश दिवस भी नहीं प्रतीत हुये। वे मर्यादा पुरुषोत्तम—उन्होंने श्वान तकको न्याय दिया। अकारण कोई एक श्वानको भी क्यों ताड़ित करे। यह दूसरी बात कि ताड़ित श्वानने अपनेको उत्पीड़ित करने वालेको मठपति बनानेकी प्रार्थनाकी। उसकी प्रार्थना स्वीकृत होनी थी और उसके तर्कको अयुक्ति-संगत कैसे कहा जा सकता है। वह स्वयं पूर्व जन्म में अत्यन्त सावधान होने पर भी प्रमादवश नखोंमें हवनीय घृत लगे भोजन करने बैठ गया और उस घृतांशके भोजनसे इस गर्हित योनिको प्राप्त हुआ। अनिच्छा पूर्वक किया उपेक्षणीय देवांशका भोजन जब उसे इस अवस्थामें ले आया—उसे ताड़ित करने वाला विप्र तो स्पष्ट प्रमादी है। प्रमत्त न होता तो वह निरपराध पर आघात करता ? वह मठपति होकर देवांशसेवन से बचेगा, इसकी आशा कहाँ। उसे सेवन करके उसकी जो असद् गति होनी है—दण्ड ही तो है उसे मठपति नियुक्त करना।

हमारे लिये मठ एक समस्या बन गये इस घटनाके पश्चात्। कोई मठपति होनेको प्रस्तुत नहीं और अकारण किसीको दण्ड कैसे दिया जा सकता था। मठोंका उच्छेदप्राय होगया। अवश्य वीतराग विप्रों ने आराध्य विग्रहोंकी अर्चा स्वयं सम्हाल ली और हमें इसके लिये चिन्तित नहीं होना पड़ा।

अत्यन्त अप्रिय न्याय था शूद्रकको दण्ड देना। वह शूद्र मर्यादाका अतिक्रम कर रहा था। उसने स्ववर्ण विहित त्याग एवं आराधनाका पथ-परित्याग करके द्विजोचित उग्रतप प्रारम्भ किया घोर अरण्य में। दृष्ट जगत में उसका प्रत्यक्ष कोई प्रभाव न हो—मर्यादाका अतिक्रम अव्यवस्था

एवं अशान्ति उत्पन्न किये बिना रह कैसे सकता है । ब्राह्मणपुत्रकी अकाल मृत्यु होगयी । निष्पाप ब्राह्मणको पुत्रशोक—उस द्विजका भी क्या दोष कि वह इसे शासकका पाप कहता था ? पिताके जीवित रहते पुत्रकी मृत्यु और वह भी श्रीराम के राज्य में ! कारणकी शोध आवश्यक होगयी और लोक-साक्षी सुरोंने हमारी सहायता की । अरण्यमें उग्र तपोरत शूद्रको पुष्पकके द्वारा अन्वेषण कर लेना कठिन नहीं था ।

मर्यादा पुरुषोत्तम—बड़ी निष्ठुर है शासककी मर्यादा । जिन्होंने शबरीके उच्छिष्ट वेर आरोगे थे उल्लास पूर्वक, उन्हें तापस शूद्रका शिर-श्च्छेद करना पड़ा अपने स्वकरोंसे और उनका निर्णय भ्रान्तिहीन था, यह तो तत्काल सिद्ध होगया, जब शूद्रके प्राणान्तके साथ मृत विप्र-कुमारमें प्राणोंका सञ्चार लौट आया ।

शूद्रक—धन्य था वह महाभाग भी । वह युगों दीर्घ तप करता—क्या होना था ? तपका फल सिद्धि । त्रिवर्गके ऊपर तो तपकी गति नहीं । अपवर्गको काय-कष्ट के मूल्यमें पाना नित्य अशक्य रहा है और वह अपवर्ग श्रीराघवेन्द्रके करोंसे हत शूद्रकका दाय बन गया ।

सुभद्र ! मर्यादा पुरुषोत्तमकी यह मर्यादा—कितनी निष्ठुर, कितनी विषम, कितनी उत्पीड़क वह है स्वयं उनके प्रति एवं उनके आत्मीयोंके प्रति । कितना दारुण है शासकका कर्तव्य भी । आह ! इस कर्तव्यने कितनी बड़ी बलि ली !' दो क्षणको कुमारकी वाणी रुद्ध होगयी । वे जैसे मूर्छित होने वाले हों । बड़े कष्टसे उन्होंने अपनेको सम्हाला ।

श्रीरघुनाथके चर—उनके गुप्तचर होनेका एकमात्र उद्देश्य ही यह है कि वे प्रजाके मनोभाव देखें । प्रजाके प्रमाद नहीं, प्रजाकी पीड़ा देखनेका उन्हें निर्देश है । उन्हें प्रजाकी त्रुटि देखनेका कोई अधिकार नहीं । उन्हें देखना है, प्रजा शासकसे कहाँ असन्तुष्ट है । शासकमें कहाँ त्रुटि देखती है ।

चर शासकके नेत्र हैं और किसीको—शासकको भी परदोष दर्शनका अधिकार कहाँ है । सभीको आत्मनिरीक्षण करना चाहिये । चरोंके नेत्रसे शासक अपनेको आत्मनिरीक्षणमें समर्थ बना पाता है ।

उस दुर्भाग्य पूर्ण रजनीमें अवधके चरने श्रीराघवेन्द्रको समाचार दिया था । कोई रजक अपनी पत्नीको ताड़ित करते कह रहा था—'मैं नरेश तो नहीं हूँ कि मेरी ओर कोई अंगुलि-निर्देश नहीं करेगा । मैं पर-गृह में रजनीके प्रथम-प्रहरको व्यतीत करने वाली नारीको गृहमें कैसे रख लूँ ।'

दशग्रीवके यहाँ महीनों रहनेवाली पत्नीको तो नरेश ही रख सकते हैं। वे समर्थ—उन्हें कोई क्या कहे।'

अग्नि शिखाओंमें जिनकी परीक्षा हुई, सुरोंने जिनके पातिव्रत्यकी साक्षी दी, त्रिभुवन वन्दनीया उन भगवती धरानन्दिनीके प्रति ये घृणित उद्गार! और सुभद्र! वह हीनमति रजक—किस गणनामें था वह; किन्तु परापवादको पक्ष हो जाते हैं। अपने आदरार्होंका अकारण अपवाद प्रसारित करनेमें सदासे संलग्न रहा है वह अभागा मानव!

बड़ा निष्ठुर है शासकका कर्तव्य। वह प्रमाद करे या न करे, प्रजा में उसके प्रति भ्रान्ति भी हो जाय तो प्रजापथ भ्रष्ट हो रहेगी। अनुशासित अपनी भ्रान्तिको उसमें आरोपित करके उस भ्रमका ही अनुगमन करने लगेंगे। शासकका स्व—कहाँ है उसका अपना कुछ। वह तो उत्सर्ग हो चुका है प्रजाके लिये और यदि वह इस उत्सर्गसे हटता है—समस्त समाजके उत्पथगामी होनेका अपराध उसीके सिर आवेगा। उसकी भावना—जिसका 'स्व' ही अवशिष्ट नहीं, उसकी भावनाका महत्व!

भगवती धरानन्दिनी—वे धन्या अन्तर्वत्नी थीं। उनका दोहद—उनका पुनीत दोहद था—सुरसरि तटके काननवासी तपोधनोंका दर्शन। वे ऋषि पत्नियोंका स्वयं सत्कार करने जाना चाहती थीं।

श्रीरघुनाथने केवल अनुजोंको उस घोर रजनीमें बुलाया। उनकी वह एकान्त मन्त्रणा—उसे मन्त्रणा नहीं कहना चाहिये सुभद्र! वह महाराज का आदेश सूचित करना मात्र था—महाराजका आदेश! श्रीरघुनाथ उस एकान्तमें हमारे अग्रज नहीं, अवध चक्रवर्तीके रूपमें हमारे सम्मुख थे। उन्होंने अपनी शपथ देकर स्पष्ट आदेश दिया—'कोई कुछ नहीं कहेगा! कोई आपत्ति नहीं करेगा और कोई प्रातःकाल मध्याह्नसे पूर्व यहाँकी कोई चर्चा किसीसे नहीं करेगा।'

हम केवल श्रोतामात्र रह गये और सम्राट् सर्वथा जैसे सम्राट् मात्र हों, सहोदर अग्रजसे बोले—'लक्ष्मण! सबसे कठिन कर्तव्य तुम्हें दे रहा हूँ। तुम्हें मेरी शपथ, तुम चुपचाप उसे स्वीकार करोगे। कोई आपत्ति तुम्हें करनी नहीं है।'

हम सब स्तब्ध रह गये। श्रीरघुनाथका यह स्वरूप, यह तटस्थ स्वर; किन्तु वज्रपात तो अब होना था। वे कह रहे थे—'मेरा रथ सज्जित करा लो। वैदेही जो कुछ ले जाना चाहें, साथ ले जाने दो। तुम

उन्हें साथ लेकर प्रातः प्रथम प्रहरमें—यथा शीघ्र प्रस्थान करो। महर्षि बाल्मीकिके आश्रमके समीप, सुरसरि तट पर अरण्यमें जानकीको उतार देना। मार्गमें उनसे कुछ मत कहना। वहाँ उतार कर कहना—'रामने उन्हें त्याग दिया है। उन्हें निरापराध जानते हुए भी निष्ठुर अवध नरेशने प्रजा-रञ्जनके लिये उन्हें त्याग दिया है। वे अब चाहे जहाँ जानेको स्वतन्त्र हैं और तुम उन्हें वहीं छोड़कर रथ लेकर तत्काल लौट आना।'

हमें सहसा कुछ नहीं सूझ पड़ा। इतना बड़ा आघात आर्य भरतने दोनों हाथ जोड़े; किन्तु महाराज आज केवल महाराज थे। उन्होंने कहा—'नहीं भरत! तुम्हें शपथका ध्यान रखना चाहिये। अच्छा, अब तुम लोग विश्राम करो।' हम उठें, इससे पूर्व महाराज उठ गये। वे इतनी देर अपनेको सम्हाले रहे, यही क्या कम आश्चर्य था।

* * *

हमारी वह रात्रि—हम एक शब्द बोल नहीं सकते थे। सहधर्मिणी का औत्सुक्य सहज था। 'आप इतने खिन्न, इतने दीन वदन क्यों हैं? क्यों इतने दीर्घश्वास? इन लोचनोंमें जल क्यों?' उनकी आतुरता उचित थी; किन्तु हमारे पास साधन क्या था। हमने अपनी विवशता व्यक्त की—'देवि! अनर्थ महान है; किन्तु कल मध्याह्न तक उसे मुख पर लाने में स्वयं महाराजकी शपथ अवरोधक बन गयी है। तब तक धैर्य रखो।'

सहोदर अग्रजकी व्यथा—उन्होंने किसीको मुख ही नहीं दिखाया। उस रात्रि अपने अन्तःपुर नहीं पधारे। एकान्त कक्षमें उस मन्त्रणा सदनमें ही उन्होंने बैठे-बैठे रजनी व्यतीत कर दी और जब अरुणचूड़ने सूचना दी ब्राह्ममुहूर्तके प्रारम्भकी, वे रथ प्रस्तुत करने उठ गये।

भगवतीको कुछ ज्ञात नहीं था। उन्होंने मुनि पत्नियों, मुनिकुमारोंके लिये उपयुक्त उपहार रथमें रखवाये। सुकोमल ऐणेयाजिन, परिष्कृत वल्कल, सामुद्रीय नारिकेल-जलपात्र तथा अन्य आश्रमोपयोगी उपकरण वे स्वयं देख-देख कर सज्जित करती रहीं।

अग्रजने लौटकर क्रन्दन करते हुए बताया था—मार्गमें वे बार-बार आतुर पृच्छा करती रहीं—'तात, तुम इतने खिन्न-वदन क्यों? तुम्हारे मनोहर मुखपर आज प्रसन्नता क्यों नहीं? आर्य पुत्र तुम पर सानुकूल तो हैं?' क्या कहते अग्रज! किसी प्रकार वह मार्ग उन्हें पार करना था।

नित्यकृत्य पथमें सम्पन्न हुआ था। रथ सूर्योदयके पूर्व ही अयोध्यासे चला गया था। अग्रजने कहा था—'सुरसरिके तट पर जब उन वन्दनीया को उन्होंने सम्राट्का सन्देश सुनाया—वे मूर्छित होगयीं। चेतना लौटने पर उन्होंने कहा—"लक्ष्मण! आर्य पुत्र प्रसन्न रहें, ऐसा प्रयत्न करना तुम लोग। वे सम्राट् हैं, अतः प्रार्थना कर देना कि इस त्यक्ताको प्रजामान कर ही स्मरण करेंगे। एक बात और लक्ष्मण! तुम देखते जाओ कि जानकी अन्तःसत्वा है। उसमें तुम्हारे अग्रजका तेज है। पीछे शिशुको भी अपवादार्ह न होना पड़े।"

'मातः' अग्रज मूर्छित होगये थे। जिनके श्रीचरणोंसे ऊपर उन्होंने कभी दृष्टि नहीं उठाई थी, उन्हें वे देखते—उन पावनताकी अधिष्ठात्री को इस साक्षीकी आवश्यकता थी? उन्होंने चरण वन्दनाकी और लौटना था उन्हें।

सुभद्र! अयोध्याकी साम्राज्ञी, अन्तः सत्वा दशामें घोर अरण्यमें मूर्छिता, एकाकिनी—वे राज्यकी अधिदेवी निर्वासिता—निष्ठुर राज्यधर्म का इससे दारुण स्वरूप भी कुछ होगा?'

कुमार फूट-फूट कर रो उठे। देवी श्रुतिकीर्तिने मुख दबा लिया अपना और सुभद्र के नेत्र अजस्र प्रवाही बन गये।

'अग्रजके लौटनेसे पूर्व ही अयोध्याके राजसदनमें आर्तक्रन्दन व्याप्त होगया।' कुमारने किसी प्रकार कहना प्रारम्भ किया—'अब क्रन्दनके अतिरिक्त अवशिष्ट ही क्या रहा था। हमारी श्री, हमारी शान्ति, अवधकी ऐश्वर्याधि देवता तो निर्वासित हो चुकी थीं।'

'राम!' दूसरा कोई क्या कहता महाराज से। कुलगुरु तक केवल सम्वोधन करके सन्न रह गये। उन्होंने श्रीरघुनाथके मुखकी ओर देखा। वह नित्य प्रसन्न मुख कहाँ था। अश्रु भी जैसे सूख गये। कुलगुरुने मस्तक झुका लिया—'तुम्हीं यह बलिदान कर सकते थे मर्यादा पुरुषोत्तम! जन-मर्यादाकी स्थापनाके लिये अपने करसे अपने हृदयको निकाल फेंकनेकी शक्ति तुममें—केवल तुममें ही सम्भव थी।' और लौट गये कुलगुरु।

—:०:—

२६—जीवन की भूल

अयोध्यामें सब था ; किन्तु निष्प्राण प्राय। सब कार्य यथावत् चलते थे--लगता था निरुद्देश्य। अवध की अधिदेवताको निर्वासित करके जैसे दिशायें शून्य होगयीं और महाराज—वे तो जैसे महाराज मात्र रह गये। उनके नित्य सस्मित वदनाम्बुज पर फिर स्मित रेख दृष्टि नहीं हुई। गम्भीर-प्रशान्तोदधि भी तो अपने अन्तर में महाताण्डव छिपाये ऐसा ही दृष्टि पड़ता है।

जीवनके इन अवसाद ग्रस्त दिनों में ही मुझसे प्रमाद हुआ। जीवन की वह भूल—वह प्रथम भूल ही जीवन का दारुण शूल बन गयी। कोई परिमार्जन नहीं, कोई प्रायश्चित नहीं रहा उसका।

सुभद्र, मर्यादाके प्रति प्रमाद हम सह लें, सुहृद् उस पर ध्यान न दें, शत्रु तक क्षमा कर दें--दैव क्षमा नहीं करता। गुरुजनोंके सम्मुख उनके आदेशकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन चुपचाप करना चाहिये। सेवाके उल्लास में भी उनके निर्णय में व्याघात उपस्थित न करके मौन रहना चाहिये। मैंने अपने जीवनका यह आदर्श बनाया था। मेरा निसर्ग संकोच—अग्रजोंके, पितृ चरणोंके, कुलगुरुके माताओं तकके सम्मुख मुझसे कुछ कहा नहीं जा पाता था। बोल तो नहीं पाता था मैं दोनों बड़ी भाभियोंके सम्मुख एवं पितृव्य तुल्य महामात्यके सम्मुख भी ; किन्तु मेरा मेरा अभाग्य उस दिन प्रतिशोध लेने पर तुला था। मैं अपने इस आदर्श से च्युत हुआ और दैव मुझे कहाँ क्षमा करने वाला था।

श्री रघुनाथ सिंहासन पर विराजमान थे। लोकपाल तक अहोभाग्य मानते हैं अयोध्याकी राजसभा में परिषदोंके आसन प्राप्त करने में। सहसा मुनियोंका एक समुदाय आ गया। प्रायः ऋषि-मुनि हम पर कृपा करने आते रहते हैं। वे तपोमूर्ति, पूर्णकाम--प्राणियों पर अनुग्रह कातर होकर ही तो वे नगर आते हैं ; किन्तु उस दिन वह मुनि मण्डल प्रार्थना करने आया था मर्यादापुरुषोत्तम से।

अर्घ्य, पाद्यादि स्वीकार करनेके पश्चात् सम्मान्यासनों पर विराजमान उन वन्दनीय अतिथियों ने कहा—'सुर जिसकी प्रलम्ब भुजाओंकी

अभय छायामें चिन्ताहीन हुए, दुर्दम दशग्रीव रूपी पाप जिनके द्वारा प्रशान्त कर दिया गया, जो धर्म एवं देव-द्विजकी रक्षाका व्रत लेकर दिव्य धामसे धरा पर पधारे हैं, उन वात्सल्यघन, आर्तशरण्यकी हम सब शरण आये हैं। लङ्का बहुत दूर थी दिव्य भूमि भारतवर्ष से ; किन्तु मधुपुरी तो इस धन्य धराका हृदय है। सृष्टिकी आदिमें सूर्यवंशके परम भागवत कुलपुरुष ध्रुवने उसे अपनी तपः स्थली बनाया था। वह सप्तपुरियोंमें नित्यपुरी, दिव्यधाम रूपा भावधरा आज त्रस्त है। कोई तपस्वी उससे योजनों दूर तक काननमें प्रवेश नहीं पा सकता। अब तो वहाँके अधिपति लवणासुरने सुदूर तपोवनों तकको प्रपीड़ित करना प्रारम्भ कर दिया है।'

दशग्रीवके निधनसे उसका भागिनेय लवण संक्रुद्ध हो, स्वाभाविक था ! विभीषणके सम्बन्धका ध्यान करके मर्यादा पुरुषोत्तमने उसकी ओर अब तक ध्यान नहीं दिया था। भारतवर्षके हृदय स्थलमें, भावभूमि मधुपुरीमें उसका उत्पात् सहन नहीं किया जा सकता था। सामान्य तीर्थ स्थलोंका भी मर्यादापुरुषोत्तम समुद्धार करनेमें संलग्न थे। सप्तपुरियोंमें एक पुरी—प्रधानपुरी ही देव-द्विज-द्रोही असुरसे आक्रान्त रहे, श्रुति-स्मृति, समस्त परम्पराका उच्छेदक वहीं स्वतन्त्र बना रहे और श्रद्धालु जनोंके प्राणोंको सङ्कट उपस्थित करता रहे, यह एक क्षणके लिये भी अशक्य था।

मेरा प्रमाद, मेरा अभाग्य, मैं आवेश में आ गया। उठ खड़ा हुआ मैं सिंहासनके सम्मुख करबद्ध—'यह सेवा इस जनको प्राप्त हो।'

मेरे दुर्दैवने सुझाया—'श्रीरघुनाथके साथ तेरे सहोदर अग्रज वनमें रहे। दशग्रीवके संग्राममें उनका पराक्रम भुवन विख्यात है। आर्य भरतने मुनि-मन अगम्य तप किया और तू अब तक प्रभुकी किसी सेवामें नहीं आ सका। तेरे लिये यही अवसर है।'

जीवनमें मैंने यही एक प्रार्थनाकी थी और वह तत्काल स्वीकृत होगयी। महाराजने उसी क्षण स्वीकृति दी—'कुमार ! तुम्हारी इच्छा है तो यह कार्य तुम्हीं सम्पन्न करो। मधुपुरीकी उत्पीड़ित प्रजा तुम्हारे संरक्षण में सुखानुभव करे।'

मैं कुछ सोच पाता, कुछ ठीक समझ पाता, उससे पूर्व तो महाराजने महामात्यकी ओर देखा। महाराजका अभिप्राय समझनेमें महामात्यसे कभी भूल होगी, सुर भी ऐसी सम्भावना नहीं कर सकते। दो क्षणमें तो सब प्रस्तुति होगयी।

महाराजने इस अभागे भाल पर स्वकरोंसे तिलक किया—'कुमार ! तुम मधुरेश हुये। मधुरा मण्डलका अधिपति बनाता है तुम्हें अयोध्याका सिहासन उद्दण्ड लवणका वध करके वहाँ की उत्पीड़ित प्रजाको परितोष दो। उनके क्षतोंको—क्षतियोंको तुम्हारा सौहार्द्र सम्यक् दूर करे। भय एवं अत्याचारने जिन्हें प्रवास दिया है, उन्हें सादर आमन्त्रित करके आवास दो। अयोध्या की शक्ति, अवध की सम्पत्ति और रामकी शुभ कामना तुम्हारे साथ।'

मैं तो आवाक्, स्तब्ध रह गया। प्रभु मुझे श्रीचरणोंसे सदाको दूर कर रहे हैं—स्वप्नमें भी इस स्थितिकी कल्पना मेरे चित्तमें नहीं आयी थी।

'विह्वल मत बनो !' मेरी अवस्था देखकर मर्यादापुरुषोत्तम कह रहे थे—'राजकुमारको कर्तव्यके प्रति प्रस्तुत रहना ही चाहिये। तुम हमसे दूर नहीं हो रहे हो। मधुपुरीका शासन सुव्यस्थित करके अयोध्या आने-जानेके तुम्हारे मार्गमें कोई अवरोध कहाँ है।'

हायरे भाग्य ! मधुपुरी का शासन सुव्यवस्थित करके भी अयोध्या 'आजाने' की आज्ञा नहीं है। 'अयोध्या आने-जाने' मात्रकी अनुमति। शत्रुघ्न अब अयोध्या का नहीं रहा। वह वहाँ अभ्यागत होकर आ सकता है ! किन्तु दुर्दैवकी औषधि तो कहीं नहीं। श्रीरघुनाथ कभी दो बार तो कहते नहीं ! उनके वचनोंमें संशोधन कब हुआ ? शत्रुघ्न अपने प्रमादसे निर्वासित होगया अपनी जन्मभूमि से। इस निर्वासनका कोई भव्य नाम—क्या अन्तर पड़ता है…………।

३०—लव-कुश जन्म

अयोध्यासे प्रस्थान करने पर मुझे रात्रि-विश्राम महर्षि बाल्मीकिके आश्रममें करना पड़ा था। उन महर्षि प्राचेतसने हमें आश्रम के समीप ही शिविरमें आवास दिया और सम्पूर्ण सेनाके साथ हमारा आतिथ्य किया।

उसी रात्रि महर्षिके अन्तेवासीसे यह ज्ञात हुआ—अवधकी साम्राज्ञी को महर्षिने अपने वात्सल्यसे बचा लिया है। पुत्रीका स्नेह प्रदान किया है उन्हें और उसी रात्रि भगवतीने यमज कुमारों को जन्म दिया है।

सुभद्र ! जिनके श्रीचरण त्रिभुवन को शरण देते हैं, उन मर्यादा पुरुषोत्तम की महारानी को आश्रममें शरण प्राप्त हुई थी। अयोध्या के युवराज-द्वयका जन्म अरण्य में, तृणकुटीर में—मुनि पत्नियों एवं मुनि कन्याओंकी अपार करुणा—किन्तु हमारी विवशताकी भी कोई सीमा है। जिनके सामान्य प्रजाजनोंके पुत्र-जन्ममें भी महोत्सव मनाया जाता है, उनके पुत्रोंके जन्म पर केवल मुनि कन्याओंने शंख बजाये।

शत्रुघ्न अकस्मात् उस रात्रि वहाँ सेनाके साथ न पहुँचा होता, अयोध्या में किसीको पता नहीं कि श्रीविदेह नन्दिनी पुत्रवती हुईं। वे जीवित भी हैं—यही आश्वासन हमें कहाँ प्राप्त था।

शत्रुघ्न की विवशता—सम्वाद सुन लेनेके अतिरिक्त और क्या किया जा सकता था। शत्रुके विरुद्ध अभियान करके मध्यमें रुकना नहीं था। हमें आदेश था—'हम शीघ्र पहुँचें। मार्गमें यथा सम्भव अत्यल्प विश्राम करें। हमारे पहुँच जाने तक असुर लवणको हमारे अभियानका सम्वाद मिलना नहीं चाहिये।'

कुमारोंका उसी दिन जन्म हुआ था। न तो उनका दर्शन शक्य था और न उन वन्दनीयाके पदोंमें प्रणत होनेकी परिस्थिति रहगयी थी। प्रातः सूर्योदयके पूर्व सेनाने प्रस्थान कर दिया। युद्धके अभियानमें सैनिक और भी कुछ स्मरण रखे—अपने लक्ष्यमें वह कैसे सफल हो सकता है।

लव-कुश—पीछे पता लगा, महर्षिने उन कुमारोंका यह नामकरण किया था। अवधके चक्रवर्ती सम्राट्के कुमारोंके अधिकांश संस्कार बिना किसी समारोहके, बिना दान-मानसे आगतोंको सत्कृत किये पर्णकुटीरमें मुनि कुमारोंके समान सम्पन्न हुये।

भगवती धरा-नन्दिनी—उन महनीयाको अपने पुत्रोंके लालन-पालन का सम्पूर्ण श्रम वहन करना पड़ा। जिनके इंगितकी प्रतीक्षा शत्-शत् सेविकायें अहर्निशि करती थीं, उन्हें सन्तानवती होनेके विषमकालमें भी सेवा नहीं प्राप्त हुई।

मुनि-पत्नियोंका वात्सल्य, मुनि कन्याओंका सौहार्द्र ; किन्तु सुभद्र ! पूजनीयोंसे कितनी सेवा ली जासकती है। उनकी कृपा ; किन्तु कितना संकोच होता है, जब उनसे कोई सहायता लेनेकी विवश स्थिति बन जाती है। श्री विदेह राजकुमारीका सहजशील—समझा जा सकता है कि उन्होंने

कितना श्रम, कितना कष्ट उठाया होगा और इस सबके पीछे जो दारुण वेदना हृदयमें सुस्थिर होगयी थी ······ ।

महर्षि प्राचेतसकी अपार करुणा अनन्त है । वे वीतराग, निष्परिग्रह, एकान्तप्रिय एकाकी आदि कवि—किन्तु उन्होंने अपने सम्पूर्ण नियम शिथिल कर दिये । कुमारोंके सर्वतोमुखी शिक्षणका दायित्त्व स्वयं उन्होंने सम्हाल लिया और उनका शिक्षण—सुभद्र ! वे इतने महान् अस्त्रज्ञ हैं, स्वप्नमें भी हममें किसीने सोचा नहीं था । उनकी अस्त्र-शिक्षा—हम चारों भाई अश्वमेधके समय कुमारोंके अस्त्रज्ञानसे पराजित होगये । हमारे दिव्यास्त्र, हमारी विश्व-विजयिनी महावाहिनी एवं दशग्रीव दर्प संहारक श्री पवन कुमार युवराज अङ्गदादिका सम्पूर्ण कपिदल ;—किन्तु महर्षिके उन शिष्योंके अस्त्र कौशलने हम सबको तृण-तुच्छ बना दिया ।

शस्त्र शिक्षाका यह अतर्क्य प्रभाव और श्रुति-शास्त्र-शिक्षा तो महर्षि की अपनी वस्तु थी । उन आदि-कविके अपरिमित ज्ञानका कुमारोंको प्रसाद प्राप्त हुआ । नाद ब्रह्ममें महर्षि ने उन्हें जो नैपुण्य प्रदान किया—अश्वमेध यज्ञके समय समस्त अवधवासियों ने तथा सम्पूर्ण आगत जनों ने देखा—कुमारोंके स्वर सौष्ठव एवं सङ्गीत कुशलताकी धरापर तो तुलना शक्य नहीं ही है—अभ्यागतों में आगत गन्धर्व श्रेष्ठ, नादके मुख्याचार्य तुम्बरू ने भी मस्तक झुका दिया ।

अब सोचता हूँ सुभद्र—सृष्टिका विधान अतर्क्य है । दारुणतम विपत्तियाँ जो प्रसाद हमें प्रदान कर जाती हैं दूसरा कोई मार्ग नहीं उस महत् को प्राप्त करनेका । वह शिक्षण, वह ज्ञान, वह अतिमानव नैपुण्य—किन्तु महर्षि प्राकेतस स्वयं भी उसे सामान्य स्थिति में प्रदान कर पाते ? उन अवध साम्राज्ञीकी विषम विपत्तिने महर्षिके मानसमें जो करुणाकी स्रोतस्विनी उद्वेलित की—उनका वात्सल्य कुमारोंके प्रति अकूल हो उठा और उस करुणा, उस वात्सल्यने ही तो वह एकान्त तन्मयता प्रदानकी जिसे प्राप्त करके आज अयोध्या धन्य है । आज हम आश्वस्त हैं कि हमारे पीछे अधिक सशक्त, अधिक निपुण, अधिक गुणशाली करों में अवधका सिंहासन सुरक्षित है । अवधकी प्रजा उन कुमारों पर सम्पूर्ण निर्भर रह सकती हैं ।

'शान्तं पापम्' देवी श्रुतिकीर्ति ने चौंक कर बाधा दी—'आप यह अमङ्गल क्यों सम्भावित कर रहे हैं देव ?'

'देवि ! अनिवार्यको अवरुद्ध तो नहीं किया जा सकता ।' कुमार ने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा —'हम सदा रहेंगे इस धरा पर, इस भयानक भ्रान्ति ने ही तो मानवको मोहित कर रखा है । हमारे लिये अब अधिक आशा—मोहके अतिरिक्त और क्या है ? भगवता गयीं; सहोदर अग्रज सरयू तट पर अनाहार आसीन होगये योगासन में, छोटी भाभी…… ·· ···· अब भी देवि ? ··· ····

वाणी स्तब्ध होगयी । आशङ्काका जो मूर्तरूप प्रत्यक्ष प्राय था, कोई क्या कहे ऐसे अवसर पर ।
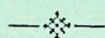
३१—मधुपुरी

लवण असुर था और उसकी आसुरी वृत्तिने उसे उद्धत कर दिया था । उसने अपनेको अजेय मान लिया था । उसके तपसे सन्तुष्ट होकर भगवान शङ्कर ने उसे अपना त्रिशूल दे दिया और मदान्ध हो गया असुर ।

भगवान शशाङ्क शेखरका त्रिशूल—उस अमोघ शस्त्र एवं भगवान भूतनाथका सम्मान ; किन्तु असुरने अपनेको ही अजेय मान लिया ।

लवणासुरके द्वारा उत्पीड़ित जो मुनिगण अयोध्या आये थे, उन्होंने हमें त्रिपुरारि प्रदत्त त्रिशूलसे सावधान कर दिया था । उन विश्वनाथके वरदानका सम्मान करना ही चाहिये था हमें । मर्यादापुरुषोत्तमने आदेश दिया था कि हमारे अभियानको सर्वथा गुप्त रहना चाहिये और वह इतने प्रशान्त पदोंसे हुआ—प्रमत्तप्राणीके समीप काल जैसे शान्त, नीरव पदोंसे पहुँचता है, मृत्युकी पदध्वनि किसने सुनी है ? लवण भी उसे नहीं सुन सका । हमारी वाहिनी उसके नगरके समीप पहुँच गयी और वह प्रमोद मग्न रहा ।

अनाचार, पाप, प्रमाद, परोत्पीडन प्राणीको स्वतः मृत्युके समीप पहुँचा देता है । अपने प्रमाद एवं पापसे ही हत असुर लवण—इतना असावधान वह कि उसकी राजधानीके समीप ही हमारी विशालवाहिनीका शिविर और उसे उसकी गन्ध तक नहीं ।

सदाकी भाँति असुर प्रातः आखेट करने निकला और हमने उसका नगर अपने आवरणमें ले लिया। मध्याह्नोत्तर लौटा वह। कितना वीभत्स दृश्य था। सेवक-सैनिक ही नहीं, स्वयं लवणके करोंमें, कक्षमें, स्कन्ध पर आहत, आर्तनाद करते मृग, वाराह, महिष आदि आखेट पशु थे और उनके रक्तसे असुर लथपथ होरहा था। क्रूरता मूर्तिमान देखी हमने उस दिन।

नगर द्वार पर मुझे उपस्थित देखकर उसे आश्चर्य हुआ, क्रोध आया। व्यर्थ था उसका रोष। उसके सामान्य अस्त्र-शस्त्र, इनमें वह मदान्ध तुच्छ था, हीनबल था और भगवान शङ्करका अजेय त्रिशूल नगरमें राज-सदनके अन्तःपुरमें सुरक्षित था। असुरकी उछल कूद निष्फल थो। वह त्रिशूल तक पहुँच नहीं सकता था।

इसे समर नहीं कहना चाहिये। मुझे श्रीरघुनाथ ने अपने अमोघवाण प्रदान किये थे और युद्ध करना कहाँ था। एक प्रजोत्पीड़कको दण्ड देना था और बहुत शीघ्र वह द्विजद्रोही समर भूमिमें सदाको सुप्त होगया।

लवणके अनुचरोंका बड़ा भाग संग्राममें निहत हो चुका था। मधुपुरी—यह दिव्य तीर्थ धरा असुरोंका आवास नहीं रहने दी जासकती थी। हमने अवसर दिया कि अवशिष्ट राक्षस अपने परिजनों एवं परिच्छदों के साथ लङ्का चले जायँ और विभीषणका आश्रय ग्रहण करें। असुर लल-नाओंका आवास लङ्का ही होसकता था और पराजित शत्रुके परिजनोंके प्रति शूरोंका औदार्य कभी कृपण नहीं हुआ। राक्षस जो कुछ ले जाना चाहते थे—ले जासकते थे, उन्हें पूरी स्वतन्त्रता दे दी हमने।

सुभद्र! तुम्हारी सहायता न प्राप्त होती, मधुपुरीकी प्रजा इतनी शीघ्र कदाचित् ही व्यस्थित होती। असुरके उत्पातोंसे उत्पीड़ित प्रवासियोंके प्रत्यावर्तन एवं पुनर्वासकी तुम्हारी दक्षता···· ।

'देव! सेवक इस स्तुतिके सर्वथा अयोग्य है।' सुभद्र ने अत्यन्त संकोच पूर्वक मस्तक झुकाया—अपने प्रभुकी आज्ञाका पालन इस जनसे हुआ, यह इसका अहोभाग्य।'

मुख पर तुम्हारी प्रशंसा मुझे नहीं करनी चाहिये, यह समझता हूँ सुभद्र; किन्तु आज मधुपुरीमें शत्रुघ्नकी अन्तिम रात्रि है, ऐसा मेरा हृदय कहता है। प्रजा—असुर-पीड़ित प्रजाको तुमने जो व्यवस्था, जो सुविधा एवं जो सन्मार्ग प्रदान किया—तुम्हारे करोंकी छाया अब यहाँके अबोध

युवक शासकको प्राप्त होगी और उसे पाकर वह निश्चिन्त रह सकेगा, इस आशाने मुझे प्रर्याप्त शान्ति प्रदान की है।'

'इन श्रीचरणोंका किङ्कर यह जन' सुभद्रने व्याकुल भावसे चरण पकड़ लिये अपने नरेशके। कुमारने संकोच-पूर्वक उन्हें सम्हाला। वे आर्द्र कण्ठ कह रहे थे—'इनसे पृथक न करें प्रभु ! आपका अनुग्रह इस अनाधिकारीको भी अवधका निवास दे सकता है।'

'अवध स्वयं इस समय अस्त-व्यस्त दशामें है सुभद्र !' कुमारके नेत्र ऊपर लगे थे—'सहोदर अग्रजको त्यागकर श्रीरघुनाथकी अवस्था—मैं उसे समझ सकता हूँ। वहाँ कब, किस क्षण क्या होजायगा, कोई नहीं जानता। तुम्हारी सेवा अभी मधुपुरीको अभीष्ट है। तुम्हारे करोंने आज ही जिसका अभिषेक किया है, वह कुमार है, अनुभव रहित है और तुम्हारा संलालित-स्नेह-भाजन है। तुम उसे सहायता दोगे सुभद्र !'

सुभद्र ने मस्तक और झुका लिया। उनके मुख पर विवशता, खेद……पता नहीं क्या-क्या एक साथ आगया। अपने अधीश्वर का वियोग—किन्तु जिनका आदेश जीवनमें उनका नित्य सम्मान्य रहा, उनकी अनुमतिको अस्वीकृत करनेकी शक्ति भी तो उनके हृदयमें नहीं। उनका कर्तव्य—कर्तव्य तो कभी सदय नहीं हुआ।

'आजकी रात्रि—इस निशाके भी प्रहर शीघ्रतासे व्यतीत होते जा रहे हैं और तुम्हें प्रातः मेरे प्रस्थानकी प्रस्तुति करनी है। नूतनके स्वागतके लिये पुरातनका विसर्जन करना ही पड़ता है हमें !'

दो क्षण रुक कर शत्रुघ्नजीने एक दीर्घ निःश्वास ली और फिर किञ्चित स्थिर स्वर हुआ उनका—'आजके संस्मरणोंका अत्यल्प अंश अवशिष्ट रहा है। उन्हें भी समाप्त हो लेने दो।'

—×—
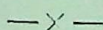
३२—अश्वमेध

महादेवीके त्यागके पश्चात् क्या रह गया था अवधमें। श्री रघुनाथ— वे मर्यादा पुरुषोत्तम, उनका प्रजावात्सल्य, कर्तव्य निष्ठा; किन्तु सुभद्र ! अन्तरके उल्लास को आमूल विसर्जित करके कोई कहाँ तक शुष्क कर्तव्य का गुरुभार वहन कर सकता है ?

सम्राट को यज्ञ करना ही चाहिये। करादान एवं प्रजोपहारसे जो द्रव्यराशि एकत्र होती रहती है राजकोषमें, उसे वितरण का पथ चाहिये। गृहस्थ संचय ही संचय करे, यज्ञके द्वारा उसमें वितरण की उचित प्रवृत्ति न हो, जिस जलाशयमें जल आता ही है—प्रवाह निर्गत नहीं होता—उसकी विकृति अनिवार्य है। वह स्व—पर सबके लिए निश्चय अस्वास्थ्यकर हो रहेगा। संचय जितना विशाल—वितरण की व्यवस्था भी तो उसीके अनुपातसे महान होनी चाहिये। गृहस्थ यज्ञ करते हैं—सम्राट् को अश्वमेध, राजसूय, वृहस्पति सब प्रभृति महायज्ञ कर्तव्य मानने चाहिये।

अयोध्यासे जब महाराज का यज्ञीय आमन्त्रण आया था, तुम तो साथ ही गये थे सुभद्र ! अश्वमेध का वह अकल्प्य सम्भार। तुमने देखा ही था कि यज्ञ मण्डप एवं पदार्थोंके रखनेके पात्र तक स्वर्ण निर्मित थे। रजत तक निषिद्धधातुके समान प्रवेश नहीं पा सकी।

अतिथियों की वह अपार भीड़—सरयू तट योजनों तक नूतनावासोंसे नगर बन गया। सब का सत्कार, सबकी उचित व्यवस्था, सबके उपयुक्त सम्भार—प्रत्यक्ष हो गया उस समय कि श्री रघुनाथ को विश्वके जन जन का अपनत्व प्राप्त है। वे सबके अपने, सबके प्रिय पात्र हैं। आगतोंमें अतिथि प्राप्त करना अशक्य हो गया। सब स्वतः सेवा को प्रस्तुत—सब सेवा स्वीकार करनेमें संकुचित। जहाँ प्रत्येक अपने को यजमान का स्वजन समझकर यज्ञीय सेवा को समुत्सुक हो, अपनी आवश्यकता स्वयं सीमित करके पूर्ण कर ले, असुविधा की गन्ध भी कहाँ मिल सकती थी।

किसी आगतके लिये यह जानना अशक्य हो उठा था कि कौन अभ्यागत जन है और कौनसे महाराजके स्वजन। उसकी सेवामें जो व्यक्ति या वस्तुयें उपस्थित हुई हैं, वे राजकीय हैं या किसी पार्श्ववर्ती अभ्यागतका

हो औदार्य है वह ? और वह स्वयं भी तो दो क्षणमें उसी श्रेणीमें सम्मिलित हो जाता था।

सम्राटके लिये जो उपहारों की राशि दिशाओंसे चली आ रही थी—देवताओंने भी संकोच नहीं किया भेंट निवेदन करनेमें और मर्यादा पुरुषोत्तमके जन उन्हें अर्चा अर्पित न करने लगें, इस संकोचसे उन्होंने जो मानवाकार स्वीकार कर लिया—हम सबके लिये अभ्यागतोंमें ही नहीं, अपने सेवक-सेविकाओं तकमें यह निर्णय करना कठिन हो गया कि उनमें कौन सचमुच मानव है और कौन देव या देवियाँ आ मिलीं हैं उनमें। सिन्धु, गिरि, सरितायें, वन, सर—सबके ही अधिष्ठाता तो अपने उपहार लेकर एकत्र हो गये थे।

हमने जिनके सम्बन्धमें सोचा तक नहीं था, जन सामान्यने जिनकी चर्चा तक नहीं सुनी वे दुर्गम अरण्यानी जननायक, मरुस्थलीय प्रजा प्रधान, सुदूर हिम प्रदेशीय मानवाग्रणी और उन सम्मान्य अतिथियोंके अद्भुत उपहार—उन अमित प्रभावशाली पदार्थों की कामना सुर भी करते हैं। अपने अञ्चल का अति दुर्लभ, अतिकांक्षित उपहार लेकर आए वे अभ्यागत। ऐसे अलभ्य उपहारों की राशि और हमारा सामान्य सत्कार स्वीकार करनेमें वे संकुचित होते थे। वे आते ही स्वजन कोटिमें आकर सेवा-संलग्न हो जाते।

'जो त्रिभुवनके अधीश्वर हैं, उनकी सेवा का सौभाग्य कौन छोड़ना चाहेगा देव!' सुभद्र का स्वर श्रद्धा भरित था—'जिनके श्री चरणोंसे किरीट नमित करना सुरेन्द्र का भी गौरव है, उनके पादपीठके स्पर्शसे अपने मस्तक को धन्य करने की कामना किसमें नहीं होगी ?'

सुभद्र ! सचमुच हमने यज्ञीय अवसर पर अनुभव किया कि मर्यादा पुरुषोत्तमने संसार को एक परिवार बना दिया है। अवधके शासन की इससे महान् सफलता क्या होगी कि हमने सुरों-असुरों को परस्पर सौहार्द्र पूर्वक मिलते ही नहीं, परस्पर सेवा-समुत्सुक देखा। जन जन का 'अहं' गलित हो गया। प्रत्येक अभ्यागत श्री रघुनाथ का सम्मान्य और उसकी सेवा सम्राट् की सेवा बनकर सबकी स्पृहणीय हो गयी।

* * *

यज्ञारम्भमें ही प्रश्न उठा था—'यजमान एकाकी यज्ञ नहीं कर सकता। गृहस्थ सपत्नीक ही यज्ञ दीक्षा ग्रहण कर सकता है।'

श्री रघुनाथने कुलगुरु को विनम्र सूचित किया—'देव ! आप सर्व समर्थ हैं। रामके वामाङ्गमें जानकीके अतिरिक्त और कोई नारी बैठ नहीं सकती और सीताके अयोध्या आनेका अवसर आया नहीं। यज्ञ आपकी अनुकम्पासे ही सम्पन्न हो सकता है।'

प्रजाके आदर्श की रक्षाके लिए, मिथ्या भ्रान्ति किसी को पथच्युत न करे, इस धारणासे, राजकीय निष्ठुर कर्तव्य की विवशतासे मर्यादापुरुषोत्तम ने निरपराध, निष्पाप भगवती धरा नन्दिनी को निर्वासित कर दिया - उनके हृदयसे वे निर्वासित हो सकती थीं ? प्रजा धर्मने एक अनुमति दी, दूसरा पाणिग्रहण करके पति धर्मसे च्युत होते वे मर्यादा विधायक ?

कुलगुरुने सदा ही सङ्कटमें हमारे लिये पथ प्रशस्त किया है। उन्होंने विधान दिया—'महारानी की स्वर्ण प्रतिमा वामाङ्गमें विराजमान होगी और यजमान-पत्नीके अश्वपरिचर्यादि कृत्य उस प्रतिमा विग्रह की उपस्थितिमें ही स्वयं यजमान द्वारा सम्पन्न होंगे।'

सुभद्र ! अभागी अवध प्रजाने अपनी जगन्माता महारानी का निर्वासन कराके पाया उनकी स्वर्ण की प्रतिमा और आज भी जब महाराज राजसभामें सिंहासनासीन होते हैं, वह प्रतिमा ही उनके वामाङ्गमें विराजमान होती है। उनके अन्तःपुरमें पूजित होती है वह प्रतिमा और उनके अन्तर में…………

किन्तु विषयान्तर हो रहा है सुभद्र ! रजनीके पद शीघ्रगामी हैं। ब्राह्ममुहूर्त समीप आ रहा है और हम अश्वमेध—महाराजके प्रथम अश्वमेध की चर्चा कर रहे हैं।

* * *

मुझे अश्व का अनुगमन करने की सेवा प्राप्त हुई। अयोध्या की विजयवाहिनी एवं लङ्का की—दशग्रीव की लङ्का की दर्पदलिनी कपि-रीछ सैन्य मेरे साथ थी। श्री रघुनाथ मुझे सुयश देना चाहते थे, अन्यथा दिग्विजय तो उनके अमित प्रतापने की। अधिकांश स्थलों पर अवधके सम्राट्के यज्ञीय अश्व को अर्चना एवं अश्वके रक्षकों को अभ्यर्थना प्राप्त हुई। मानव नरेश ही नहीं, धराके उपदेव नायकोंने भी अपना सौभाग्य माना अयोध्याधीश को अपना सम्राट् स्वीकार करनेमें।

अत्यल्प स्थलों पर शस्त्र ग्रहण करना पड़ा। उनमें भी जिनमें दर्प था, वे शीघ्र दमित कर दिये गए; किन्तु उनका शत्रुघ्न क्या कर लेता जो

श्रीराघवेन्द्रके अन्तरङ्ग स्वजन थे। उन मानी महानुभावोंकी अद्भुत भक्ति, उनका लोकोत्तर भाव—सुभद्र! तुम जानते हो कि श्रीराघवेन्द्र स्वयं प्रेम। परवश हैं। वे अपने स्नेहियोंसे नित्य पराजित—ऐसा मानधनी भक्त जब धनुष उठा ले, शत्रुघ्न किस गणनामें होता है वहाँ? श्रीरघुनाथको ऐसे सभी अवसरों पर शत्रुघ्नकी रक्षा करनी पड़ी और भावुक अन्तरका आग्रह उन्होंने कब नहीं रखा है?

यक्ष, किन्नर, वानर—सम्पूर्ण उपदेव राज्योंमें हमारा यज्ञीय श्याम-कर्ण भ्रमण कर आया। सबने विनत मस्तक अयोध्याधीश को कर-प्रदान किया।

मन्त्र पूत, देवरूप यज्ञीय अश्व—वह यज्ञेयका दिव्यतम प्रतीक। कभी किसी अश्वमेध में—कभी किसीके यज्ञमें यज्ञीय अश्व पथ-भ्रान्त हुआ हो, वह किसी धरा राज्यमें न गया हो अथवा किसी तपोवनमें प्रविष्ट हुआ हो, ऐसा कभी किसीने सुना नहीं। वह विजित प्रदेशमें पुनः तभी प्रवेश करता है, जब ऐसा किये बिना किसी अविजित राज्यमें प्रवेशका कोई पथ न हो।

हम सभी अश्वानुगामी चौंके थे, जब हमारे अश्वने सम्पूर्ण धरा मण्डलका भ्रमण समाप्त करनेके पश्चात् सीधे अयोध्या लौटनेके पथका परित्याग कर दिया। यह पथ-त्याग भी उसने किया हमारे अपने सीमान्त के प्रायः समीप और वह महर्षि बाल्मीकि के तपोवन की ओर जा रहा था।

यज्ञीय अश्व तपोवनकी ओर? परन्तु हम क्या करते सुभद्र! हम न अश्व को पथ-प्रदर्शित कर सकते थे, न किसी ओर जानेसे वारित कर सकते थे। हम तो अनुगामी थे। तुम्हें विदित है कि अश्व रक्षकोंको अश्व की किसी गतिमें बाधा देनेका अधिकार नहीं होता। वह रुक जाय तो हम रुके रहेंगे। तृण-ग्रहण करने लगे तो हम प्रतीक्षा करेंगे। वह स्वेच्छा पूर्वक चलता रहे, उसकी स्वच्छन्दतामें बाधा न पड़े, इसलिये हम उससे कुछ पीछे ही अपनेको रोके रहते थे।

अश्व कभी विश्राम करता स्थिर होकर, कभी मन्द मन्थर गतिसे चलता और कभी वायु वेगसे दौड़ने लगता था। हमें प्रत्येक स्थितिमें अनुगमन करना था। आतप-वर्षा, शीत-वायु—अश्व परिचर्याकी सुविधा देखकर कैसे सम्पन्न हो सकती है?

हमारा वह सम्मान्य अग्रणी—वह जब जलमें उतरता स्नानके लिये, हम सेवा करके अपना श्रम सार्थक बनाते। जहाँ वह सरितादिके समीप पथ-प्राप्तिके लिये रुक जाता—हम यथाशीघ्र उसके लिये पथ-प्रशस्त करते और इस प्रकार हमारा अश्व सम्पूर्ण भूमण्डल का भ्रमण कर आया।

हम पर वह देवरूप अश्व सदा सानुकूल रहा। उसने स्वयं आतप-वर्षादिमें विश्राम करके हमें विश्राम का अवसर दिया। उसने स्वयं ऐसे पथों को अपनाया जो हमारी विशालवाहिनीके लिए भी सुविधाजनक हो सकते थे। वही दिव्य अश्व जब तपोवन की ओर चला—अवश्य कोई हेतु तो होना ही चाहिये था।

'निखिल धरा मण्डलाधीश श्री अयोध्यानाथ दाशरथि श्री राम का यह अश्वमेधीय अश्व जहाँसे जा रहा है, वह सम्पूर्ण प्रदेश उनका विजित देश है। जिसे यह स्वीकार न हो, अयोध्याके अधिपति को जो अपना सम्राट् स्वीकार न करता हो, अश्व को अवरुद्ध कर सकता है; किन्तु उसे युद्ध को प्रस्तुत रहना चाहिये।'

यज्ञीय अश्वके भाल पर स्वर्णपट्टमें रत्नाक्षरोंके ये दीप्तिमान् वाक्य–शूराभिमानियों को यह अयोध्या की प्रोज्वल चुनौती थी और सहज स्वाभाविक था कि रघुवंश भूषणके किशोर इसे असह्य मानते ; किन्तु हमें क्या ज्ञात था कि हमारे उत्तराधिकारी वहीं अभिवर्धित हो रहे हैं।

'देव ! अश्व अवरुद्ध कर लिया गया है।' अग्रचर सेवकोंने जो प्रायः अश्व पर दृष्टि रखते हुये अनुगमन करने को नियुक्त थे, हमें पीछे लौटकर समाचार दिया—'दो अल्पवयस्क मुनि-कुमारोंने यज्ञीय अश्व पकड़ा है। उनमें एक अश्व को कदाचित् आश्रममें ले गये हैं और दूसरे धनुष को ज्या सज्ज किये हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'मुनि कुमारोंने अश्व अवरुद्ध किया है ?' हमें आश्चर्य हुआ ; किन्तु हमने समझा बाल चापल्यके कारण उन्होंने ऐसा किया है। उन्हें मधुर-वाणीसे सन्तुष्ट किया जा सकता है। शिशुओंके कार्य अपराध कोटिमें आया नहीं करते।

हम आगे आये और हमने जिनको देखा—सुभद्र ! कितना भव्य, कितना तेजोदीप्त, कितना मनोहर वेश था चिरञ्जीव कुश का उस मुनि

कुमार रूपमें। वही नव जलधर वर्ण, वही सुविशाल कमल दल लोचन, वही प्रलम्ब बाहु ! वल्कल वस्त्र, ऐणेयाजिन वक्ष पर सुदृढ़ बद्ध, मस्तक पर जटा जूट, भालचन्दनचर्चित, पृष्ठ पर तूणीर एवं वामकरमें ज्यासज्ज धनुष, दक्षिण करमें एक शर लिये--बालमुनि वेशमें वह शौर्य, तेज, अभय की साक्षात् मूर्ति—हम तो देखते रह गये कई क्षण। हमारी विशाल वाहिनी, हमारी अपार शस्त्र सज्जा—किसी का किञ्चित भी तो प्रभाव पड़ा होता ! निर्भय अमर्ष कुटिल भ्रू भङ्ग, उद्दाम वीरत्व की मूर्ति—वह तो जैसे नेत्रोंके आज भी सम्मुख है।

हमने ऋषिकुमार ही समझा वेशके कारण और प्रयत्न किया कि समझाकर उन्हें शान्त कर दें तथा अश्व प्राप्त कर लें ; किन्तु हमें जो उत्तर मिला—सुभद्र ! श्री राघवेन्द्र-कुमारके ही उपयुक्त था वह उत्तर। चिरञ्जीव कुशने कहा था--'अयोध्या नरेशसे हमारी कोई शत्रुता नहीं ; किन्तु पृथ्वीके समस्त शूरोंके शौर्य को यह चुनौती—इसे सहन नहीं किया जा सकता। आपके लिये दो ही मार्ग हैं--अपने अश्वके भाल पर लगा घोषणापत्र मेरे साथ चलकर उतार दीजिये और अश्व ले जाइये। अश्वमें हमारी कोई अभिरुचि नहीं। यह स्वीकार न हो तो धनुष उठाइये।'

हमने परिचय जानना चाहा ; किन्तु हमें निराश होना पड़ा। कुमारने तिरस्कृत किया हमें—'युद्ध करनेके लिये परिचय की आवश्यकता ?'

हम समझते थे, बालकों का अज्ञान एवं दुराग्रह उन्हें उत्तेजित कर रहा है। दो पदाति किशोर महती सेना एवं विश्वजयी शूरों का सम्मुख समर झेल लेंगे—कल्पना भी कैसे की जा सकती थी। उन्हें आघात पहुँचाने का कोई उत्साह हमारे मनमें नहीं था। हमने आशा की थी, उनके धनुष छिन्न करके हम उन्हें शीघ्र निरस्त्र कर देंगे और संग्राम समाप्त हो जायगा।

हमें दो क्षणमें ही अपना भ्रम ज्ञात हो गया। कुशके धनुष की ज्यासे बाण नहीं, मृत्यु सहस्त्र सहस्त्र मुख फाड़े हमारी ओर आने लगी। आक्रमण की बात ही विस्मृत हो गयी। हम तो आत्म-रक्षणमें व्यस्त हो गये। मैंने स्वयं धनुष उठाया। हमारे समस्त शूर प्राणपणसे युद्ध व्यस्त हो गये; किन्तु हमारी समस्त सम्मिलित शक्ति एकाकी कुमार को पर्याप्त नहीं हो रही थी। हमारी सेनाके अश्व, गज, रथ, सारथि, सैनिक—उपल वर्षासे जैसे

शस्य धराक्रान्त होते हैं, हत-आहतों की संख्या अत्यन्त तीव्रतासे हमारे दलमें बढ़ती जा रही थी।

कोई देव श्रेष्ठ, स्वयं भगवान चन्द्रमौलि—कुमारके रूपमें कौन है हमारे सम्मुख ? मेरा चित्त उद्विग्न हो उठा। समर अनिवार्य था और विवश होकर—सामान्य शरोंसे कोई परिणाम न होते देखकर मैंने दिव्यास्त्रों का स्मरण किया। शूराभिमानी यह शत्रुघ्न एकाकी बालकसे जो पदाति था, रथ पर बैठकर, लक्ष-लक्ष योधाओंके साथ युद्ध कर रहा था और उस पर भी दिव्यास्त्र…… …!

सुभद्र ! हमारे अस्त्र-शस्त्रोंके समान ही मेरे दिव्यास्त्रोंकी दशा भी हुई। आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र—आदि ही नहीं, मैंने ब्रह्मास्त्र तक उठानेकी धृष्टता की ; किन्तु उसके प्रयोगसे पूर्व ही मेरा धनुष छिन्न होगया। हमारे अस्त्र-शस्त्र कुमारके पास तो क्या पहुँचते, खण्ड-खण्ड हो उठते थे प्रयोगके क्षणमें ही। दिव्यास्त्रोंका यह अद्‌भुत ज्ञान—यह हस्तलाघव, यह प्रयोग पटुता—भगवान् मृत्युञ्जयको छोड़ अन्यत्र भी सम्भव है यह शौर्य, मैंने सोचा तक नहीं था।

युद्ध अब केवल युद्ध नहीं रहा था। एक कुमारके वाणोंसे हमारी सैन्यशक्ति समाप्त प्राय हो चली। मेरे प्राण स्वयं संकटमें पड़ गये। अन्तमें श्रीरघुनाथका स्मरण करके मैंने अमोघ शक्तिका प्रयोग किया और मेरा हृदय जैसे स्वयं अपने दारुण कृत्यसे विदीर्ण होगया, मैंने कुमारको धरा पर गिरते देखा।

दो क्षण भी नहीं गये कि कुमारकी वही छटा, वही शौर्य—सम्भवतः वे अनुज थे कुमारके—नेत्र और अङ्गार बने और आये ही धनुषसे प्रलय वर्षा करते। अपने सहोदरको भूलुण्ठित देखकर चिरञ्जीव लवको रोष आना स्वाभाविक था और हम उस रोषका सम्मिलित प्रतिरोध करनेमें भी असमर्थ होगये। मेरा वर्म खण्ड-खण्ड होगया दो पल में। शरीर शर-पञ्जर बनगया और मैं संज्ञा शून्य गिर पड़ा।

अवशिष्ट आहत सैनिकोंके समीप और क्या मार्ग था ? वे अयोध्या गये और श्री राघवेन्द्रका आदेश प्राप्त कर मेरे सहोदर अग्रज अतिरिक्त सैन्यके साथ युद्ध भूमि में आये। सुभद्र ! यह प्रयास भी असफल था।

चिरञ्जीव कुशने शीघ्र संज्ञा प्राप्त कर ली और अब युद्ध भूमिमें दो प्रलयङ्कर धनुष प्रलय वर्षा करने लगे थे। अग्रजके भी आहत-संज्ञा-शून्य हो जाने पर सेवकोंको पुनः अवध दौड़ना पड़ा और आर्य श्रीभरतजी युद्धमें आये; किन्तु उनकी अवस्था भी हमारे समान ही हुई।

अश्वमेध यज्ञ धरा रहा। समस्त यज्ञीय सम्भार विरमित करके स्वयं श्रीरघुनाथको धनुष धारण करना पड़ा। समस्त अवध सैन्य, हनूमान अङ्गदादि विशिष्ट शूर सम्राटके साथ युद्ध भूमिमें आगये।

श्रीरघुनाथने कुमारोंकौ देखा और परिचय प्राप्त किये बिना संग्राम करना अस्वीकार कर दिया। कुमार कुशने अपना परिचय दिया था— "हम दोनों यमज हैं। हमारी माता श्रीसीताजी हैं और गुरुदेव हैं महर्षि बाल्मीकि। किसी अन्य स्वजनको हम नहीं जानते। पृच्छा करनेकी हमने जब चेष्टाकी, माताकी व्यथाने हमें वारित कर दिया! वे पूज्या अत्यन्त विह्वल हो उठती हैं ऐसे प्रश्नों से।"

अपने ही कुमार संग्राममें सम्मुख—हाय रे, अभाग्य! वे जानते तक नहीं कि उनके पितृचरण उनके सम्मुख स्थित हैं।

युद्धके लिये कर उठते सुभद्र? श्रीरघुनाथ ने अपने रथमें उत्तरीया-च्छादित करके शयन कर लिया। उनकी वेदना—उन्होंने सैन्यको संग्राम का आदेश दे दिया था। संग्राम करती—उन कुमारोंके शराघातका प्रति-कार था सैन्यके समीप? प्रायः सब आहत या हत हुए। कोई समर भूमिमें स्वस्थ स्थित रहे—किसीको कुमारोंने नहीं छोड़ा। उन्होंने केवल पवन कुमारको बल-पूर्वक वन्दी किया और अपने अद्भुत पाशोंमें बाँधकर लेगये आश्रममें अपनी विजयके प्रतीक रूप में।

कितना उल्लास कितना उत्साह होगा कुमारोंमें माताको विजय-सम्वाद सुनाने का! हमने पीछे सुना श्रीहनुमानसे—उन्हें देखते ही भगवती धरानन्दिनी दौड़ पड़ी थीं। उन्होंने पुत्रोंको स्नेह-पूर्वक झिड़का—'अरे तुम दोनों इन्हें क्यों बन्दी बना लाये?' अपने श्री करोंसे उन्होंने बन्धन मुक्त किया कपिश्रेष्ठ को।

'हा ! तुमने मुझे विधवा कर दिया।' समरका समाचार सुनते ही वे मूर्छित हो गिरीं। दोनों कुमार स्तब्ध—मूर्तिवत् खड़े रह गये। महर्षि तत्काल न पहुँच जाते, अनर्थ हो जाता ; किन्तु उन्होंने सम्हाल लिया। उनकी आश्वस्त वाणीने भगवतीके प्राण बचाये।

महर्षि कुमारोंको लिये संग्राम भूमिमें आये। श्रीरघुनाथ को उन्होंने सम्बोधित किया और श्रीराघवेन्द्र ने उठकर उनकी चरण-वन्दना की। कुमारोंने अब परिचय प्राप्त कर लिया था। उन्होंने प्रणिपात किया।

अमृतस्यन्दी कर अवधके भिषक् श्रेष्ठ—सुरेन्द्र स्वयं सुधा अर्पित करके सेवाके सुअवरसे धन्य होनेको जहाँ समुत्सुक रहते हैं, सैन्यको जीवन प्राप्त होने में कठिनाई क्या होनी थी।

हम सब उठे। हमें चेतना मिली, स्वस्थ शरोर मिला, यज्ञीय अश्व मिला और महर्षि को अभ्यर्थना मिली ; किन्तु कुमार नहीं मिले और अवध की वे साम्राज्ञी—उनका सान्निध्य तो हमारे भाग्य में से उठ ही चुका था।

श्रीरघुनाथ ने कुमारों को साथ ले जाने की कोई तत्परता व्यक्त नहीं की। महर्षि ने भी इसे उपयुक्त नहीं माना। महर्षिको सादर यज्ञमें आमन्त्रित करके अश्व लेकर हम लौट आये अयोध्या !
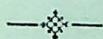
३३–भगवती धरानन्दिनी

एक उल्लास था, एक आशा थी और जब हम यज्ञीय अश्व लेकर यज्ञ-भूमिमें लौटे—जैसे चिर-विषाद विदा हो चुका था ; किन्तु कहाँ, वह तो विड़ाल के समान केवल संकुचित हुआ था वेगपूर्ण आक्रमण के लिये ।

चिरञ्जीव लव-कुश का शौर्य—उनकी तेजस्विता, उनकी अदम्य शक्ति एवं अकल्पनीय शस्त्र-कौशल—हमारी पराजयने जो आनन्द हमें प्रदान किया, शत-शत विजय कहाँ समर्थ हुई उसे देने में ।

जन-जन कुमार द्वयकी चर्चामें तल्लीन । सैनिक श्रान्त नहीं होते थे उन किशोरोंके शौर्यका वर्णन करते । सब था ; किन्तु श्रीरघुनाथ का मौन, उनका गाम्भीर्य—उनके श्री मुख पर स्मित नहीं आया ।

सहसा महर्षि वाल्मीकि के आगमनका समाचार प्राप्त हुआ । उन आदि कविने हमारा आतिथ्य अस्वीकार कर दिया । जिन त्रिभुवन धन्याको उन्होंने कन्या बनाया था, उनके निर्वासनकी समाप्तिसे पूर्व वे हमारा आतिथ्य ग्रहण करनेको प्रस्तुत नहीं थे ।

उन विश्ववन्द्यने यज्ञ-भूमिसे कुछ दूर अरण्य ही अपना आवास निश्चित किया । उनके साथ आश्रम जन प्रायः सभी थे और अपने कुमारों के साथ अवध साम्राज्ञी भी पधारी थीं ।

महर्षि के आदेशसे लव-कुशने अभ्यागत—शिविरों में नगर-वीथियों में, यज्ञशालाके पार्श्व प्रदेशमें गान करते परिभ्रमण प्रारम्भ कर दिया । करमें वीणा लिये वे मुनि कुमार वेशधारी राघवेन्द्र कुमार—उनका वह वीणा विनिन्दक स्वर और महर्षि प्रदत्त नादज्ञानकी वह दिव्य शिक्षा—तुम्बरू तुलना नहीं कर सकते थे उस सङ्गीत की ।

कुमार द्वय जब महर्षि द्वारा रचित उनके आदि काव्य—श्रीरघुनाथ के ही चरितका गान करते राजपथों पर पधारते—नगर जन, पुरनारियाँ

प्रातः से ही उनकी प्रतीक्षा करती होतीं। अपार जन समुदाय उनके साथ हो लेता। उनके स्वर सौष्ठव से मुग्ध मानस—कब पद उनका अनुगमन करने लगे, किसीको पता नहीं लगता था।

किन्हें वे प्राणप्रिय नहीं होगये। कौन उनके अनुरूप रूप, अतर्क्य स्वर माधुरी एवं अतिमानव सङ्गीतसे विमुग्ध नहीं हुआ। स्वयं महाराज विवश हुये—जन-जनकी, पुरजन-परिजन, अमात्य-प्रजाप्रधान, द्विज-वृन्द एवं बन्धुजन सभी जब आग्रह करते हों, सम्राट् उसे कैसे अस्वीकार कर देते ? दोनों कुमार आमन्त्रित हुये राजसभामें और उन्हें वह आदि काव्य श्रवण करानेकी अनुमति प्राप्त हुई।

धन्य महर्षिकी साधना ! स्तुत्य उनका श्रम—परमश्लाघ्य उनकी कृति ! सम्राट्को—धृतिके अधिदेव श्रीरघुनाथ को स्वयं आत्मविस्मृति होगयी। अश्रु, स्वेद, कम्प, रोमाञ्च—किस श्रोतामें दिव्य सात्विक भावों का उदय नहीं हुआ। कुमारोंके स्वरोंका आरोह—अवरोह, उनकी भाव व्यञ्जना एवं रसपरिपाक—जड़ प्रकृतिका अणु-अणु उनके स्वरों पर झूम उठा।

झूम उठीं शाखायें, मत्त हो उठे भ्रमर, गूँज पड़ी केकाध्वनि जब कुमारोंने शृङ्गार का—हमारे विवाहका गान किया और पत्र शुष्क होगये, पुष्पोंकी पंखड़ियाँ झर गयीं, पक्षी तक क्रन्दन करने लगे, पाषाण द्रवित हो उठे जब उनके स्वरमें करुण साकार हुआ।

वह सङ्गीत—त्रिभुवनने वह सङ्गीत कदाचित् ही कभी श्रवण किया हो। समस्त राजसभा—सम्पूर्ण आगत समाज बिमुग्ध, निस्तब्ध, प्रशान्त !

उस समाजमें सङ्गीतकी समाप्ति पर महर्षि पधारे। अवध की साम्राज्ञी—अधोवदना, वल्कल वसना तपस्विनी- जिनकी स्वर्ण प्रतिमा सम्राट्के सिंहासन पर आसीन थी, वे स्वयं दीना, खिन्ना, अपने अङ्गों में ही संकुचित महर्षि का पदानुगमन करती पधारीं !

'सम्राट् ! द्विज वृन्द ! अभ्यागत गण ! अवध प्रजाजन !' महर्षिने एक ओरसे सबको सम्बोधित किया। उनका मेघ गम्भीर स्वर गूँज रहा

था। उनकी वाणीमें अद्‌भुत ओज था—'प्राचेतस वाल्मीकि सत्यकी शपथ करके कहता है, सीता सर्वथा निष्कलमष है।' वे सम्पूर्ण मन से पतिव्रता हैं। उनका काय, वाणी, चित्त—सम्यक् परि शुद्ध हैं ये जनक नन्दिनी। बाल्मीकि की समस्त साधना साक्षी है, दिग्देवता साक्षी हैं एवं अलक्ष्यके साक्षी सुरगण यहाँ साक्षात् विद्यमान हैं, सब साक्षी हैं—सीता पूर्ण पवित्र हैं। उनमें कल्मषकी कल्पना करने वाला मानस अधम है। आप सब ....' बोला नहीं गया महर्षि से। उनका कण्ठ भर आया।

अभागे हैं हम सब, क्षीण पुण्य हैं समस्त वर्तमान जन—हमारा दुर्दैव क्रूर हास्य कर रहा था। कोई एक शब्द तो बोलता। किसीने तो साहस किया होता मुख खोलने का। श्रीराघवेन्द्र शान्त स्थिर बैठे रहे। महर्षि के सम्मानमें उन्होंने मस्तक झुका दिया। निर्णय तो प्रजाको करना था और प्रजाजन—उनके मुखमें जैसे आज वाणी ही नहीं थी।

'भगवन! आप अपने इस जनको क्षमा करें!' श्रीरघुनाथ ने कुछ क्षण प्रतीक्षाकी और जब अन्य कोई आशा किसीके बोलनेकी नहीं रही, वे स्वयं बोले! उनकी वाणीमें उनकी व्यथा, विवशता--पता नहीं क्या-क्या था--'सीता को स्वयं आगे आना चाहिए। यह अवसर लज्जा करनेका नहीं है। वे शपथ ग्रहण करके इन लक्ष-लक्ष रूपोंमें स्थित जन मूर्ति जनार्दन के सम्मुख अपनेको निष्पाप प्रमाणित करें।'

महर्षिने अनुमति दी--'वत्से! नारीके लिये पतिकी आज्ञा परमात्मा का आदेश है। तुम श्रीरामके आदेशका पालन करो।'

अपने चरणोंमें ही दृष्टि सन्निहित किये वे विश्ववन्द्या किञ्चित आगे आयीं। यह प्रवञ्चना, यह अवमानना--अवध साम्राज्ञी, सुरोंकी साक्षी एवं अग्निकी शुद्धि भी अपर्याप्त होगयी उनके लिये? महर्षि वाल्मीकि के वचन हत भाग्य अवधजनोंको प्रामाणिक नहीं प्रतीत हुये? शपथ आवश्यक मानी गयी उनके लिये?

मस्तक झुकाकर भगवतीने सबको अभिवादन किया। उनका स्वर-उनका स्वर तो जैसे सर्वत्रसे अब असङ्ग हो उठा था। निष्कम्प, स्थिर वह सुकोमल स्वर—

'श्रीरघुनाथ की यदि सीता मन वचन-कर्मसे नित्य दासी रही हो तो भूदेवी मुझे स्थान दें।'

जानकी ने मनसे भी कभी श्रीकौशल्या-कुमार के अतिरिक्त अन्य पुरुषका चिन्तन न किया हो तो पृथ्वी देवी मुझे स्थान दें।'

'यह सीता यदि सर्वथा श्रीराम की ही रही हो, इसकी चित्तवृत्तिमें कभी किञ्चित अन्तर न आया हो तो भगवती धरा अपने अङ्कमें मुझे स्थान दें।'

सहसा घोर शब्द हुआ। राजसभाके मध्य पृथ्वी विदीर्ण होगयी और हमारे नेत्र उसमेंसे प्रकट होती ज्योतिको सहन करनेमें असमर्थ होगये। तेजोमय रत्नासनासीन भगवती भू देवी—वे उठीं और उन्होंने दोनों भुजायें बढ़ाकर अपने अङ्कमें खींच लिया श्रीजनक-नन्दिनी को।

धरादेवी अपनी परमधन्या पुत्रीको लेकर अन्तर्हित होगयीं। फटा धरातल पूर्ववत् बन गया। कोई कुछ सोचे, कुछ कहे, कोई प्रार्थना—अनुरोध; किन्तु अब अवधवासी इसके अधिकारी कहाँ रह गये थे कि भूदेवी अपनी पुत्रीको हमारे मध्य रहने देतीं। अब शोक, पश्चाताप विषाद—क्या अर्थ था इस सबका !

* * *

यज्ञ, यज्ञ, यज्ञ—श्रीरघुनाथ और करते भी क्या ! अब शासन में, राजसदन में, प्रजा समूहमें उनके लिये भी कहां शक्य रह गया था अपनेको स्थिर रखना। अन्तरका अपार विषाद—मर्यादापुरुषोत्तम ने मर्यादाकी रक्षा कर ली। उन्होंने अश्वमेध, राजसूय, वृहस्पतिसव प्रभृति दीर्घकालीन यज्ञोंकी परम्परा प्रारम्भ कर दी। एक यज्ञकी समाप्तिसे पूर्व दूसरे यज्ञका समारम्भ—जीवनके क्षणोंको व्यतीन करनेका इससे उपयुक्त अन्य मार्ग कहाँ था ?

कुमार लव-कुश—भगवती धरानन्दिनी के पवित्र प्रसादके रूपमें अवधको प्राप्त हुये। अवधकी अपराधिनी प्रजा—भगवतीके कुमार उसकी रक्षा न करते, वह अनाथप्राय हो चुकी थी। श्रीराघवेन्द्र अवकाश पाते यज्ञोंसे—दुराशा मात्र।

३४—उपसंहार

अब क्या रह गया सुभद्र ! अवधकी अधिष्ठातृ देवी जबसे चली गयीं—रह क्या गया और यत् किञ्चित जीवन जो अवशिष्ट था, यज्ञोंके अपार सम्भारमें जिसे व्यस्त व्यतीत किया जारहा था—शक्य रह गयी उसकी भी स्थिति ?

तुमने सम्वाद तो सुन ही लिया है। ऋषि वेशमें स्वयं कालपुरुष अवध पधारे थे। कोई नहीं जानता, उन्होंने श्रीरघुनाथ से क्या मन्त्रणा की—ऐसी कौन सी मन्त्रणा उनकी थी, जिसके लिये उन्हें इतना एकान्त आवश्यक था कि कोई तृतीय व्यक्ति किसी कारणसे वहाँ उपस्थित होजाय तो उसे प्राणदण्ड प्राप्त हो, यह वचन लेना आवश्यक माना उन्होंने अयोध्या के अधीश्वरसे ; किन्तु कालपुरुषका क्या अभिप्राय हो सकता है - उनका जो नित्य स्वभाव है—ध्वंसके अतिरिक्त भी कुछ आया है उन्हें कभी ?

कालपुरुषकी गुप्त मन्त्रणा चल रही थी। श्रीरघुनाथ ने बहिःद्वार की रक्षा मेरे सहोदर अग्रजको सौंप दी थी और महर्षि दुर्वासा आ पहुँचे। वे क्षुधातुर थे। उनकी क्षुधानिवृत्ति—उनके आतिथ्यकी व्यवस्था सादर राजसदनमें सम्पन्न हो जाती ; किन्तु महर्षि किसीसे अपना अभिप्राय व्यक्त भी करें। सम्राट्के अतिरिक्त उन्हें किसीसे कुछ नहीं कहना और सम्राट् से भी उन्हें अविलम्ब मिलना—एक क्षण दुर्वासाजी रुकेंगे !

महर्षि दुर्वासा—कोपके अधिदेवता उनसे अधिक कृपालु हैं। भगवान रुद्र के अंश और उनमें रुद्र के दो ही स्वभाव तो आये हैं—कोप एवं तप।

'अविलम्ब श्रीराम को सूचित करो !' महर्षिने आते ही विनयावनत द्वार स्थित अग्रजको अपने सहज रूक्ष स्वरमें आदेश दिया—'तुम दुर्वासा को जानते हो ! अविलम्ब ! अन्यथा सम्पूर्ण रघुवंश एवं राज्य अभी भस्म हो जायगा।'

'देव !' अग्रजने अञ्जलि बाँध ली और मस्तक झुकाकर प्रार्थना करने का प्रयत्न किया। चर कहता था, मुनीश्वर तत्काल क्रुद्ध होगये। उनके नेत्रोंसे अग्निस्फुलिंग झरने लगे। कमण्डलुका जल उनके दक्षिण करमें

आगया—तुम दुर्वासाका आदेश अस्वीकार करनेका दुस्साहस करते हो ? मुझे एक शब्द तुम्हारा सुनना नहीं । चलो श्रीराम के समीप अथवा ···!'

मेरे सहोदर अग्रजके समीप क्या मार्ग रह गया ? अपना बलिदान करके सम्पूर्ण वंश एवं राज्यकी रक्षाके अतिरिक्त वे और क्या निर्णय करते ? प्रजाकी रक्षाके लिये प्राण न दे सके—धिक्कार है उस क्षत्रियको !

महर्षिका आदेश स्वीकार करके सहोदर अग्रज उस गुह्य मन्त्रणा कक्षमें प्रविष्ट हुए । श्रीराघवेन्द्रने महर्षिके आगमनकी सूचना प्राप्त की और स्वयं उनका स्वागत किया । उनकी अर्घ्य, पाद्यादिसे यथोचित अर्चा—उन्हें क्षुधा पीड़ित कर रही थी और केवल आहारकी आकांक्षा थी । भोजन करके महर्षि प्रयाण कर गये । कालपुरुष प्रथम ही प्रस्थान कर चुके थे ।

'देव ! पितृ चरणोंने सत्यकी रक्षाके लिये स्वयं आपका त्याग किया और प्राणोंको अपेक्षा नहीं की ।' सहोदर अग्रजने महर्षिके प्रस्थानके पश्चात् प्रार्थना की—'यह शरीर नाशवान है । मृत्यु अवश्यम्भावी है । इस जनका जीवन धन्य बने ! आप अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करके सत्यकी रक्षा करें ।'

'लक्ष्मण ! जिस हृदयहीन रामने निरपराध निष्कलमष जानकी का त्याग किया' श्रीरघुनाथका स्वर अतिशय विह्वल हो उठा—'वह क्या नहीं कर सकता ? वह अपने सत्यकी रक्षा भी करेगा ; किन्तु सभी सत्पुरुष कहते हैं—प्रिय स्वजनका परित्याग उसका वध ही है । मैंने तुम्हारा परित्याग किया लक्ष्मण ! अब यहाँसे जाओ और अभागे राम का मुख फिर देखनेका प्रयत्न मत करना ।'

* * *

चर कहता है सुभद्र ! मेरे सहोदर उस कक्षसे निकले और सीधे सरयू तट चले गये । उन्होंने किसीसे मिलना आवश्यक नहीं माना । अपनी अभिन्न सहचरी तकसे उन्होंने मिलकर कुछ नहीं कहा ! श्रीराम के बिना लक्ष्मण—मेरे सहोदर अग्रजने यहाँ और किसीको जाना था । उनके प्राण श्रीरघुनाथ में निवास करते थे । उनका श्वास-श्वास, उनके जीवनकी प्रत्येक गति श्रीरघुनाथ के लिये—श्रीरघुनाथ ने ही त्याग दिया—संसारमें क्या रह गया उनके लिये ! वे किससे मिलते···· ?

सेवकों ने, सचिवों ने, पुरजनों ने उनका वह विषण्ण वदन, पदाति प्रस्थान देखा । सबकी पृच्छा व्यर्थ । चर कहते हैं—वे इस प्रकार जारहे थे, जैसे कुछ देखते न हों । कोई शब्द उनके श्रवणोंका स्पर्श न करता हो ।

सरयू तट पर पहुँचकर उन्होंने अपने वस्त्राभरण उतार दिये। स्नान करके वे बद्धासन निश्चल स्थित हो गये हैं !

उनकी नित्य सहचरीने यह सब सुना और वे तत्काल मौन होगयीं। उन अमित तेजस्विनीने वाणीका त्याग कर दिया है। वे अपने कक्षमें ही स्थिर आसीन हैं। साहस तक नहीं होरहा है किसीका उनके समीप जानेका।

श्रीरघुनाथ ने तत्काल चिरञ्जीव कुश का राज्याभिषेक सम्पन्न कर दिया है। कुमार लव तथा आर्य श्रीभरतजी एवं सहोदर अग्रजके भी तनय द्वयको विभिन्न प्रदेशोंका अधिपति नियुक्त कर दिया है। मुझे भी यही करके यथा शीघ्र अयोध्या आनेका आदेश है।

'सुभद्र ! अरुड़ चूड़ने हमारा आह्वान किया' सहसा प्रसङ्ग समाप्त करते कुमारने कहा---'रजनी व्यतीत होगयी। ब्राह्म मुहूर्तके इस प्रारम्भ में तुम भी अब नित्य कृत्य सम्पन्न करो। भगवान भास्करको अर्घ्य अर्पित करनेके अनन्तर हमें प्रस्थान कर देना है।'

सुभद्रने मस्तक रख दिया भूमि पर। वे विह्वल रुदन करने लगे। कुमारने उठाया—'नियतिका विधान निष्ठुर है सुभद्र ! तुम……।'

'देव ! इस जनका परित्याग रूप वध श्रीचरण न करें।' गद्गद् कण्ठ, आर्त-कातर प्रार्थना कर रहे थे वे अमात्य--'इस दासको भी अनुमति दें अनुगमन की।'

'अच्छा सुभद्र !' कुमारने स्वीकार कर लिया—'अपने आत्मजको अपना दायित्व अर्पित करके तुम भी प्रस्तुत हो लो।' सुभद्र ने दम्पतिकी वन्दनाकी और समाप्त होगयी वह रात्रिगोष्ठी।

३५—परिशिष्ट

आगे का अंश केवल अनुमान का विषय नहीं है। महर्षि वाल्मीकि ने उसका वर्णन किया है।

सुबाहु एवं श्रुतसेन नामक अपने पुत्रों का राज्याभिषेक करके शत्रुघ्न कुमार अयोध्या पधारे। अपने आदरणीय सहोदर अग्रज एवं उनकी सहधर्मिणी का दर्शन उन्हें नहीं होना था—नहीं हुआ। सुमित्रा नन्दन श्री लक्ष्मण सरयू तट पर अपने आसन से उत्थित होने के बैठे नहीं थे। सच बात तो यह है कि परात्पर पुरुष मर्यादापुरुषोत्तम को अब लौकिकी लीला का संवरण करके अपने नित्यधाम पधारना था और उन शेषी से प्रथम ही तो उनके ही अंश शेष को पहुँच जाना चाहिये वहाँ। श्री लक्ष्मणलाल के अन्तर्हित होने के क्षण भर पश्चात् भी क्या उनकी नित्य सहधर्मिणी धरा पर रह सकती थीं? चन्द्र न रहे—ज्योत्स्ना कैसी? इससे क्या अन्तर पड़ता था कि एक सरयू तट पर योगासन आसीन था और दूसरी राजसदन के अपने कक्ष में। दोनों नित्य अभिन्न—वे परधाम प्रयाण में भी अभिन्न ही रहे।

कौन किससे क्या पूछता, क्या कहता। श्री राघवेन्द्र ने स्वयं प्रस्तुति कर ली थी अपने नित्य धाम पधारने की। शत्रुघ्न कुमार का आगमन—यह आगमन तो अनुगमन मात्र के लिये था।

कुश को श्री राघवेन्द्र ने अयोध्या के सिंहासन पर अभिषिक्त किया था। लव को, श्री भरतलाल जी के पुत्र तक्ष तथा पुष्कल एवं लक्ष्मणलाल के पुत्र द्वय अङ्गद एवं चित्रकेतु को विभिन्न प्रदेशों का शासक नियुक्त कर दिया था।

आगे की कोई कथा रहती ही नहीं। भगवान व्यास के शब्दों में—

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डक कण्टकैः।
स्वपाद पल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः॥

—भागवत ९। ११। १९

अपने स्मरण करने वाले अनन्य भक्तों के हृदय में दण्डकारण्य के कण्टकों से विद्ध अपने चरण पल्लवों को स्थापित करके श्री रघुनाथ आत्म-ज्योति—चिन्मय ब्रह्मज्योतिर्घन अपने नित्यधाम साकेत को पधारे।

वे परात्पर परमपुरुष एकाकी पधारे, ऐसी सम्भावना करने का कोई कारण नहीं है। उनके साथ सम्पूर्ण अयोध्या ही नहीं, उनके सम्पर्क में आने वाले जनकपुर निषादराज गुह के नगर-जन एवं किष्किन्धा के पुरजन तथा समस्त अरण्यवासी भी पधारे उनके दिव्यधाम।

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपिवा।।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः।।॥

—भागवत ९। ११। १९

उन मर्यादा पुरुषोत्तम ने जिसका स्पर्श कर दिया था जिन पर उनको दृष्टि कभी किसी क्षण भी पड़ी थी और जिन्होंने उनके सच्चिदान-नन्दघन श्री विग्रह का दर्शन प्राप्त किया था, जिनको उनके साथ राजसभा वन में या अन्यत्र कहीं आसीन होने का अवसर प्राप्त हुआ था अथवा जिन महाभागों ने उन परमप्रभु का अनुगमन किया था, वे समस्त कोसल प्रजा-जन उस नित्यधाम को पधारे, जहाँ अनन्य भक्तियोग के आश्रित महाभाग-वत योगी पहुँच पाते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

महर्षियों की चर्चा नहीं करनी चाहिये ; क्योंकि वे तो भगवान की दिव्यविभूति, कारकपुरुष होते हैं। वे तो ज्ञान की परम्परा को स्थित रखने आते हैं और कल्पान्त तक उन्हें रहना होता है। वे परम स्वतन्त्र—इच्छा-नुसार व्यक्त या अव्यक्त रूप में धरा को धन्य करें, जनलोक या तपोलोक में निवास करें या लोकान्तरों का परिव्रजन करें।

श्री राघवेन्द्र ने विभीषण को लङ्का का कल्पपर्यन्त के लिए अधिपति बना दिया था। अतः विभीषण जी एवं उनके अनुगतों को भी उनके साथ रहना ही था।

पवन कुमार श्री हनुमान जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम से स्वयं वरदान प्राप्त किया—'जब तक आपके मङ्गलायतन चरित का धरा पर कीर्तन

होता रहे, मैं यहीं रहकर उसका श्रवण करता रहूँ।' उन प्रभु ने कभी किसी निजजन की आकाँक्षा अपूर्ण तो रखी नहीं। उन्हें 'तथास्तु' कहना ही था।

वानर यूथप द्विविद भी द्वापर तक रहे और श्री बलराम जी के करों से द्वापरान्त में उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई, यह बात भी श्री मद्भागवत से ज्ञात है। इसी प्रकार रीछराज जाम्बवन्त की उपस्थिति भी द्वापरान्त तक प्राप्त होती है। वे महाभाग तो श्री कृष्णचन्द्र के सम्मान्य स्वसुर ही हुए।

इन व्यक्तित्व विशिष्ट जनों को छोड़ दें तो तीन नगर धरा के जन-हीन हो गये—अयोध्या, शृङ्गवेरपुर एवं किष्किन्धा जन हीन प्राय हो गया, चौथा नगर जनकपुर।

अयोध्या के नवीन नरेश कुश—उस जनहीन पुरी में वे किस पर शासन करते? स्वजनों से सर्वथा रहित उस नगरी में रहना शक्य रहा उनके लिये? उन्होंने अपनी राजधानी अन्यत्र स्थित की; किन्तु जब अवध की अधिदेवता ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया, उनका आदेश स्वीकार करके कुश पुनः अयोध्या पधारे। उन्होंने उस नगर को पुनः बसाया।

–:०:–

आपने पुस्तक पूरी पढ़ ली

अब

आपके मन में आता होगा कि आपके मित्र भी इसे पढ़ें। उनसे चर्चा कीजियेगा और आर्डर भेजवा दीजियेगा। जो गरीब हों और न मंगा सकें उन्हें अपनी प्रति पढ़ने को दीजियेगा। ऐसा करके आप मित्र धर्म का पालन करेंगे। ध्यान रहे, आपके सभी मित्र यह श्रेष्ठ पुस्तक अवश्य पढ़ें।

मित्र पुस्तक और 'श्रीकृष्ण-सन्देश' दोनों मंगावें अथवा केवल 'शत्रुघ्न कुमार की आत्मकथा' इसका निर्णय कर लीजियेगा।

—प्रकाशक

श्रीशत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा

—आपकी दृष्टिमें—

'मुझे राम या रामचरितसे कोई प्रेम नहीं है।' एक कट्टर जैन सज्जनने कहा था—'लेकिन इस पुस्तकका ही यह दोष है कि इसके कोई ४ पृष्ठका प्रूफ मैं लगातार नहीं पढ़ सका। आँखें भर आती हैं और पढ़ना रोकना ही पड़ता है।'

एक दूसरे सज्जनने लेखकसे कहा—आपकी पुस्तक 'केवल एकान्तमें पढ़ने योग्य' इस शीर्षकके साथ छपनी चाहिए थी। कोई शिष्ट व्यक्ति दूसरोंके सम्मुख हिचकियाँ लेकर रोना पसन्द नहीं करता और यह पुस्तक चुपचाप शान्त रहकर पढ़ी नहीं जा सकती।

व्यवस्थापक
प्रकाशन-विभाग
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवासंघ
मथुरा—२८१००१

श्रीसुदर्शन सिंह जी 'चक्र' की अन्य पुस्तकें

१—**भगवान वासुदेव** २३×३६″ सोलह पेजी आकारमें
पृष्ठ ४०८ मूल्य १२) ५०

२—**राम-श्यामकी झाँकी**—पाकेट आकारमें, पृष्ठ १९२,
मूल्य २) ००

३—**सखाओंका कन्हैया**—पाकेट आकारमें, पृष्ठ १६०,
मूल्य २) ००

प्रेस में—

आञ्जनेयकी आत्मकथा

श्यामका स्वभाव

शिवस्मरण

हमारी संस्कृति

अन्य पुस्तकें—

महामना मदनमोहन मालवीयके प्रेरक संस्मरण—
पाकेट आकारमें, पृष्ठ ६६, मूल्य १) ००

श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाके प्रेरक संस्मरण—
पाकेट आकार, पृष्ठ ६०, मूल्य १) ००

प्राप्ति स्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ
मथुरा—२८१००१ (उ० प्र०)